अमनस्क योग

गोरखनाथ विरचित नाथ सम्प्रदाय

महायोगी श्री गोरक्षनाथ विरचित
नाथसंप्रदाय का अप्रकाशित
अपूर्व ग्रन्थ

अमनस्क योग

सम्पादक एवं टीकाकार
श्री योगनाथ स्वामी

प्रस्तावना
महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज
(एम० ए०, डी० लिट्०, पद्मभूषण, साहित्यवाचस्पति, सर्वतंत्र सार्वभौम)

सिद्ध साहित्य संशोधन प्रकाशन मंडल, पूना

प्रकाशक :

श्री रवीन्द्र जनार्दन भेल्हे,
सिद्ध साहित्य संशोधन प्रकाशन मंडल,
'श्री' भवन, ४८४/३४ पर्वती,
पूना–६ (महाराष्ट्र)।

प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ

मूल्य : 24/0

विक्रम संवत् २०२४ (१९६७ ई०)

प्राप्ति स्थान :

(१) विश्वविद्यालय प्रकाशन,
भैरवनाथ, वाराणसी।

(२) श्री जी० एच० रावल, एडवोकेट,
कांगरा भवन, २३२, डा० एनी बेसेंट रोड,
वर्ली, बम्बई–१८।

(३) श्री सुशीलकुमार गांगुली, सॉलीसिटर,
१४/१, सुवर्बन पार्क रोड,
हवड़ा–१, कलकत्ता।

(४) श्री राजनारायण, बैरिस्टर,
ए १०७, डिफेंस कालोनी,
नई दिल्ली।

(५) श्री मधुकर निखल, एडवोकेट,
६५, महात्मा गांधी रोड,
पूना कैम्प, महाराष्ट्र।

मुद्रक :

श्रीकृष्ण मुद्रणालय, दारानगर, वाराणसी–१।

समर्पण

सनातन धर्म और भारतीय संस्कृति

के पोषक

धर्मनिष्ठ

कैलाशवासी

सेठ श्री आनंदराम जयपुरिया

(स्वदेशी कॉटन मिल्स, कानपुर)

को

स्मृति में

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते ॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र ममामृतं कृधि ॥
[ऋग्वेद–९/११३/७, ११]

हे पवित्र करनेवाले देव, मुझे उस लोक में, दिव्य भाव में स्थित कर, जहाँ सदा प्रकाश ही प्रकाश विद्यमान है, जहाँ अंधकार से प्रकाश की ओर गति नहीं होती, अपितु एक प्रकाश से पूर्णतर प्रकाश की ओर गति होती है, जहाँ दुःख से सुख की ओर गति नहीं है, अपितु एक आनंद से पूर्णतर आनंद की ओर गति होती है, जहाँ मृत्यु से अमरत्व की ओर गति नहीं है, किन्तु सदा अमरत्व ही अमरत्व विद्यमान है, जहाँ उच्चतम लक्ष्य सदैव प्राप्त रहता है।



अनुक्रम

सम्पादकीय

सिद्ध साहित्य प्रकाशन द्वारा नाथ संप्रदाय का अभी तक अप्रकाशित "अमनस्क योग" नामक यह द्वितीय पुष्प[१] प्रकाशित हो रहा है। इससे मुझे एवं योगसाधन में अभिरुचि रखनेवाले लोगों को हर्ष होना स्वाभाविक है।

नाथ संप्रदाय के प्रवर्तक महायोगी श्री गोरक्षनाथ जी ने संस्कृत भाषा में कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से निम्नलिखित ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—

अमनस्क, अमरौघशासनम्, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह, सिद्ध-सिद्धांत-संग्रह, महार्थमंजरी, विवेक मार्तण्ड, योगमार्तण्ड, गोरक्ष पद्धति, गोरक्ष संहिता, योगबीज इत्यादि।

इनके अतिरिक्त बृहद् एवं लघु ग्रन्थ भी हैं, जैसे—योगचिन्तामणि, हठयोग संहिता, श्री नाथसूत्र, योगशास्त्र, चतुरशीत्यासन, गोरक्ष चिकित्सा, गोरक्षपंचय, गोरक्ष गीता, गोरक्ष कौमुदी, गोरक्ष कल्प इत्यादि।

---

१. "ज्ञानदीपबोध" (गुरुदत्तात्रेय-गोरक्षनाथ संवाद) नामक प्रथम पुष्प दो वर्ष पूर्व ही वाराणसी से प्रकाशित हुआ था। उसका प्राप्ति स्थान है—श्री मधुकर विखल (एडवोकेट), ६५ महात्मा गान्धी रोड, पूना—१।

कुछ विद्वानों ने अवधूत गीता, प्राणसंकली, योग तारावली या योग सारावली नामक ग्रन्थों को भी श्री गोरक्षनाथ की रचनाएँ माना है। वस्तुतः अवधूतगीता के रचयिता भगवान् श्री दत्तात्रेय हैं जिन्होंने उपदेश (स्वात्म-संवित उपदेश) रूप में उसे श्री कार्तिकस्वामी (सुब्रह्मण्यम् या षण्मुखम्) को सुनाया था। इसकी प्राचीन प्रतियों में प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक पुष्पिका है जिसमें लिखा है, "श्री दत्तात्रेय विरचितायाम् अवधूतगीतायाम् संवित्युपदेशोनाम...अध्यायः"। इस ग्रन्थ की चालीस-पचास पूर्व छपी हुई कुछ प्रतियों को देखने पर पता चला है कि प्रारम्भ के कुछ श्लोकों में श्री गोरक्ष-नाथ जी का नाम दिया गया है। किन्तु इन श्लोकों की एवं अवधूतगीता के अन्य श्लोकों की भाषा, छन्द, रचना इत्यादि में भेद प्रतीत होता है जिससे स्पष्ट पता लग जाता है कि प्रारम्भ के कुछ श्लोक किसी विद्वान् द्वारा जोड़े गये हैं और इस ग्रन्थ को नाथ सम्प्रदाय का ग्रन्थ प्रमाणित करने का वृथा प्रयास किया गया है।[१] प्राण संकली (प्राण शृंखला) नामक ग्रन्थ के रचयिता संतगुरु नानक हैं[२] जब कि "योगतारावली" श्रीमद् आद्य शंकराचार्य जी की रचना मानी गयी है। मैं यहाँ पर सम्प्रति इन सबके विषय में आलो-चना करना अप्रासंगिक समझता हूं।

उपर्युक्त संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में "अमनस्क" का महत्वपूर्ण स्थान है। नाथ संप्रदाय के विषय में अनुसंधान करनेवाले सज्जन मि० ब्रिग्ज, डा० मोहन सिंह, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री अक्षय-कुमार बनर्जी, डा० श्रीमती कल्याणी मल्लिक से लेकर वर्तमान समय के प्रायः सभी अनुसंधानकर्ताओं ने अपने-अपने शोध प्रबन्धों में "अमनस्क" ग्रन्थ का उल्लेख तो किया है किन्तु अप्राप्य होने पर उसका उद्धरण-विवेचन प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। फलस्वरूप महायोगी श्री गोरक्षनाथ जी की योग विषयक विचारधारा का जितना स्पष्ट एवं विस्तीर्ण रूप से अपने ग्रन्थों में आलेखन करना चाहिए था उतना वे नहीं कर पाये हैं। अब इस अद्भुत ग्रन्थ के प्रकाशन से भावी अनुसंधानकर्ता उक्त अपूर्णता को पूर्ण करने में समर्थ होंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

अमनस्क ग्रन्थ का नाम सर्वप्रथम जब मैंने श्रद्धेय महामहोपाध्याय डा०

---

१. अवधूतगीता के कुछ परिवर्तित श्लोक नाथ संप्रदाय के कुछ ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

२. और भी कई सिद्धों और सन्तों की भी ऐसी रचनायें मिलती हैं।

श्री गोपीनाथ कविराज, पद्मविभूषण, से सुना तब से ही उसे प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा हुई। तदनुसार राजस्थान, सौराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, नैपाल इत्यादि के नाथ संप्रदाय के प्रसिद्ध स्थानों में उसके विषय में पूछ-ताछ की, किन्तु सभी स्थानों से निराशा ही हासिल हुई। कुछ लोग तो अमनस्क नामक कोई ग्रन्थ है यह बात मानने को भी तैयार नहीं थे। आखिर प्रायः छः वर्षों के कठिन परिश्रम के उपरान्त मुझे मैसूर प्रान्त से कन्नड़ भाषा में इस ग्रन्थ की अपूर्ण एवं कई स्थानों में त्रुटिपूर्ण एक प्रति प्राप्त हुई। एक कन्नड़भाषी सज्जन से कन्नड़ लिपि के श्लोकों को संस्कृत में आवद्ध करवाया और जहाँ कहीं अपूर्णता एवं अशुद्धियां थीं उन्हें श्रीयुत डा० गोपीनाथ कविराज जी की सहायता से दूर किया। इस प्रकार कन्नड़ भाषा की प्रति में से ९८ श्लोक प्राप्त हुए किन्तु इस प्रति के आधार पर अमनस्क के विषय में जो कुछ ज्ञान था वह अपर्याप्त ही था। अब मैंने इस ग्रन्थ के शेष भाग की खोज शुरू कर दी। भारत के कितने ही प्राचीन हस्तलेख संग्रहस्थानों से पत्र-व्यवहार किया। कुछ अगम्य स्थानों में गया भी। इस प्रकार शोध करते-करते आखिर मैं शेष ११३ श्लोकों को प्राप्त कर सका। सब मिलाकर इन २११ श्लोकों को शुद्ध कर, दो खण्डों में व्यवस्थित रूप में रख कर, उनका सरल अनुवाद किया। जहाँ कहीं टिप्पणियों की आवश्यकता प्रतीत हुई वहीं संक्षेप में लिख कर ग्रन्थ रूप में यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह सब श्रीयुत गोपीनाथ कविराज जी के मार्गदर्शन से ही सम्पन्न हो सका है जिसके लिए मैं उनका चिरकृतज्ञ हूं।

अमनस्क ग्रन्थ के जो दो हस्तलेख मुझे अच्छी हालत में प्राप्त हुए हैं उनमें से ही यहाँ पर पाठभेद दिया जा रहा है। बाद में और जो कुछ जीर्ण अवस्था वाली पोथियों मुझे देखने को मिली उनमें उस ग्रन्थ के विभिन्न नाम पाये गये हैं, जैसे—अमनस्क, अमनस्कयोग, अमनस्क योग-शास्त्रम्, अमनस्कखंड, श्री ईश्वर-वामदेव संवाद, स्वयंबोध इत्यादि।

अमनस्क ग्रन्थ ईश्वर एवं वामदेव के संवाद रूप में है। मुनिश्रेष्ठ श्री वामदेव जी कैलासपर्वत के शिखर पर पहुँचते है और वहीं पर स्वस्वभाव में स्थित भगवान् श्री कैलासपति शिवजी को श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रणाम कर रलस हृदय एवं जिज्ञासु वृत्तिसे जीवन्मुक्ति के उपाय के विषय में प्रश्न करते हैं। मुनिवर की उत्कट ज्ञान-पिपासा एवं अहैतुकी भक्ति देखकर योग-योगीश्वर भगवान् शिव जी उनको तारक योग का रहस्य, योगी गुरू के लक्षण, योग

साधना के लिये उपयुक्त स्थान, योगासन, क्रियायोग, विभूतियों के लक्षण इत्यादि के विषय में प्रकाश देते हैं। "मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा" की उक्ति के अनुसार प्रसंगानुसार वे बहिर्मुखी वृत्तिवाले साधुओं की वेषभूषा, व्यवहार इत्यादि की निंदा भी कर देते हैं जिससे योगमार्ग पर प्रस्थान करनेवाला साधक सावधान रहे। उदरपूर्ति के लिये मारण-उच्चाटनादि मलिन मंत्रों में अभिरुचि को प्रपंच, विभिन्न प्रकार के आसन, बंध, मुद्रादि के अभ्यास में ही सारा समय व्यतीत करने की प्रवृत्ति को अज्ञान, और यहाँ तक कि देहस्थ नाड़ी विशेषांतर्गत षट्चक्रों में ध्यान की क्रिया को चित्त का विभ्रम कहते हुए इन सबका परित्याग कर, जागतिक पदार्थों से दूर रहने का और अमनस्क सेवन का उपदेश देते हैं। तत्पश्चात् वे परमतत्व का निरूपण करते हैं और उसके बोध के विषय में साधना का रहस्य प्रशस्त करते हुए लयस्थयोगी, लय, लय के प्रकार, लययोग से प्राप्य सिद्धि इत्यादि के विषय में अद्भुत उपदेश देकर अन्त में चेतावनी देते हुए कहते हैं कि परब्रह्म में लीन होने के इच्छुक महापुरुष के लिये ये सिद्धियाँ सर्वनाशकारिणी होती हैं, इसलिये उन्हें उनकी ओर आकृष्ट नहीं होना चाहिये। लयसाधना द्वारा योगी को परमानन्द की प्राप्ति होने पर अजरत्व एवं अमरत्व दोनों की एक ही साथ में महासिद्धि प्राप्त हो जाती है जिससे महाप्रलय होने पर भी उनका पात नहीं होता।

द्वितीय खण्ड या उत्तरार्द्ध में मुनिश्रेष्ठ श्री वामदेव जी भगवान् देवाधिदेव शिवजी से विनीत भाव से प्रार्थना करते हैं कि प्रथम की भाँति ही परमानंद प्रदायक दूसरा उपदेश करने की कृपा करें। इसके प्रत्युत्तर में भगवान् उन्हें तारकयोग एवं अमनस्क योग में भेद, शांभवी मुद्रा का रहस्य, शांभव योग, अमनस्क विद्या और उसकी महिमा गाते हुए बाह्याडंबर की निंदा और अमनस्क के उपाय, प्राप्ति और अमनस्क योगी के लक्षणादि के विषय में अतीव बोधप्रद उपदेश प्रदान करते हैं।

इस ग्रन्थ के विषय में मैं यहाँ पर एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख करना अनुचित नहीं समझता।

श्रीयुत कविराज जी से जब मैं इस ग्रन्थ के द्वितीय खंड के १५ वें श्लोक को समझ रहा था तब इसमें एक भारी उलझन पैदा हो गयी। श्लोक बड़ा ही विचित्र होने पर भी उसका शाब्दिक अनुवाद सरल था, किन्तु उसमें से

कोई ठोस अर्थ नहीं निकलता था। यह देख श्रीयुत कविराज जी भी हैरान रह गये। कुछ समय तक इसके अर्थ के बारे में विचार करने पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह श्लोक ही इस ग्रन्थ का हृदय है अर्थात् अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इसलिये योग की प्रक्रिया विचित्र शब्दजाल में गुप्त रखी गयी है। मैंने मन ही मन कहा कि इस श्लोक का रहस्य खुलने पर ही इस ग्रन्थ को प्रकाशित करना उचित है, अन्यथा कदापि नहीं। अब इसको बोधगम्य करने के लिये मैंने कई विद्वान्, साधक, साधु-महात्माओं के द्वार खटखटाये, किन्तु निराशा ही हाथ लगी। इसे देख सबकी बुद्धि चकरा जाती थी। यह श्लोक इस प्रकार है—

"ऊर्द्ध्वमुष्टिरधोदृष्टिरूर्द्ध्वभेदस्तधः शिराः।
धरायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भविष्यति॥ १५॥

इसका शाब्दिक अर्थ है—"ऊपर की ओर मुष्टि, नीचे की ओर दृष्टि, ऊपर को भेद और नीचे की ओर सिर कर "धरायन्त्र" की विधि से साधक जीवन्मुक्त होगा।"

इस प्रकार के सरल अर्थ से कुछ भी समझ में नहीं आता। मुष्टि क्या है? भेद एवं शिर किसे कहते हैं? धरायन्त्र कौन-सी वस्तु है? इन सबको यहाँ पर अत्यन्त गुप्त रक्खा गया है। यह श्लोक सचमुच ही ग्रन्थ का हृदय है। जीवन्मुक्ति की प्राप्ति की रहस्यमयी विधि अतीव गोपनीय रखी गयी है। इस श्लोक को यदि अमनस्क योग रूप महान् धनभंडार को खोलने की कुंजी कहा जाय तो अनुचित न होगा। इसके रहस्य का पता लगाने में मुझे कमसे कम छः मास लग गये होंगे। जब मैं इसके विषय में कहीं से भी समाधान प्राप्त न कर सका तब एक दिन सहसा मुझे एक साधक का लिखा हुआ ग्रन्थ, "My Threeyears In Tibet" का स्मरण हो आया। उस साधक ने अपने ग्रन्थ में कुछ स्वानुभव भी दिये थे। उसमें एक स्थान पर वह लिखता है कि तिब्बत के दुर्गम मार्गों पर आगे बढ़ते समय कई बार एसा प्रसंग आया था कि मार्ग में तीन-चार विभिन्न दिशाओं के मार्ग आ मिलते थे। तब उनमें से सच्चे मार्ग का पता लगाने के लिये वह वहीं पर बैठ जाता था और हृदय-कमल में ज्योति का ध्यान किया करता था। अच्छी एकाग्रता का संपादन करने पर उसे हृदय में से ही सच्चा मार्गदर्शन मिल जाता था।

मैंने भी इसी प्रक्रिया का अवलम्बन किया। प्रयत्न करते-करते प्रायः एक मास हो गया। फिर भी निराश न हुआ। एक शुभ नीरव रात्रि के समय में जब मैं ध्यान कर रहा था तब मैंने एक विचित्र-सा दृश्य देखा जो महाभारत की एक प्रसिद्ध कथा पर आधारित था। वह था "अर्जुन का मत्स्यवेध"। सहसा आंखे खुल गयीं। रहस्य का पता चल गया था इसलिये आनन्द होना स्वाभाविक था।

उक्त प्रसंग से सम्बन्धित महाभारत के आदि पर्व के कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

"अर्जुनो धनुषो ऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाचलः।
स तद्धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥
(महा० आदिपर्व १८७।१७)

इस प्रकार जब ब्राह्मण लोग भांति-भांति की बातें कर रहे थे, उसी समय अर्जुन धनुष के पास जाकर पर्वत के समान अविचल भाव से खड़े हो गये। फिर उन्होंने धनुष के चारों ओर घूमकर उसकी परिक्रमा की।

"प्रणम्य शिरसा देवमीशानं वरदं प्रभुम्।
कृष्णं च मनसा कृत्वा जगृहे चार्जुनोधनुः॥ १८॥

इसके बाद वरदायक भगवान् शंकर को मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन ही मन भगवान् श्री कृष्ण का चिन्तन करके अर्जुन ने वह धनुष उठा लिया।

"यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथ वक्रैः
राधेय दुर्योधन शाल्य शाल्वैः।
तदा धनुर्वेद परैर्नृसिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपियत्नात्॥ १६॥

तदर्जुनो वीर्यवतां तदर्प-
स्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः।
सज्यं च सक्रे निमिषान्तरेण
शरांश्च जग्राह दशार्धसंख्यान्॥ २०॥

अर्थ—रुक्म, सुनीथ, वक्र कर्ण, दुर्योधन, शल्म तथा शाल्व आदि धनुर्वेद के पारंगत विद्वान्, पुरुष सिंह राजा लोग महान् प्रयत्न करके भी जिस धनुष पर डोरी न चढ़ा सके, उसी धनुष पर विष्णु के समान प्रभावशाली एवं पराक्रमी, वीरों में श्रेठतम अभिमान रखनेवाले इन्द्रकुमार अर्जुन ने पलक मारते-मारते प्रत्यंचा चढ़ा दी। इसके बाद उन्होंने वे पाँच बाण भी अपने हाथ में ले लिये।

विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च
छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम्।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः
समाजमध्ये च महान् निनादः॥ २१॥

अर्थ—और उन्हें चला कर बात ही बात में लक्ष्य वेध दिया। वह बिंधा हुआ लक्ष्य अत्यंत छिन्न-भिन्न हो यन्त्र के छेद से सहसा पृथिवी पर गिर पड़ा। उस समय आकाश में बड़े जोर का हर्षनाद हुआ और सभामण्डप में तो उससे भी महान आनन्द कोलाहल छा गया।

"पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवः
पार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः॥ २२॥

देवता लोग शत्रुहन्ता अर्जुन के मस्तक पर दिव्य पुष्पों की वर्षा करने लगे।

उपर्युक्त वर्णन द्रौपदी स्वयंवर के समय अर्जुन द्वारा किये हुए मत्स्यवेध का है। अर्जुन अर्थात् साधक, द्रौपदी अर्थात् शांभवी। धरायन्त्र अर्थात् भेद (लक्ष्य) को प्रतिबिंबित करनेवाला भूमि पर एक विशेष प्रकार से बनाया हुआ यन्त्र (जलकुण्ड) जिसमें, मत्स्यवेध (शांभवी मुद्रा) करते समय, बहिर्दृष्टि स्थिर की जाती है। स्वयंवर में विजय प्राप्त होना अर्थात् साधक को शांभवी सिद्ध होना। मत्स्यवेध के समय अर्जुन ने धनुष पर शर चढ़ा कर उसे स्तंभ पर फिरती धातु निर्मित मत्स्य की ओर रखा है। (अर्थात् धनुष को पकड़े हुए एक हाथ की मुट्ठी ऊपर की दिशा में है।) यह हुआ "ऊर्द्ध्व मुष्टि" शब्द का अर्थ। अर्जुन ने अपनी दृष्टि पृथिवी पर बने हुए पानी के कुण्ड (धरायन्त्र) में पड़ने वाले धातुनिर्मित मत्स्य के प्रतिबिंब की ओर अर्थात् नीचे की ओर रखी है। यह हुआ "अधोदृष्टि" का अर्थ। भेद अर्थात्

लक्ष्य (मत्स्य) तो स्तंभ के ऊपर के (उर्द्ध्व) मार्ग में है जब कि अर्जुन का शिर नीचे की ओर, कुण्ड में दिखाई पड़ने वाले मत्स्य के प्रतिबिंब की ओर है। इस प्रकार "उर्द्ध्व लक्ष्य अधोदृष्टि" अर्थात् "बहिर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि" की धरायन्त्र की विधि से (शांभवी मुद्रा की क्रिया द्वारा) साधक जीवन्मुक्त होगा।

द्वितीय खण्ड के श्लोक १० में शांभवी मुद्रा की विधि स्पष्ट रूप में बतायी गयी है। यहाँ पर कठिन त्राटक साधना के विषय में संकेत मात्र है और कहा है कि यह मुद्रा सर्व शास्त्रों में गोपित है। किन्तु श्लोक १५ में इस मुद्रा की रहस्यपूर्ण विधि आसानी से रखी गयी है और वह बोधगम्य हो जाय इसीलिए मत्स्यवेध के दृष्टांत रूप में, विचित्र शब्दजाल में ग्रथित कर दिया गया है और उसका फल जीवन्मुक्ति बताया है।[१] यह श्लोक अमनस्क योग ग्रन्थ का हृदय है, यह बात निर्विवाद सत्य है। भगवत्कृपा से ध्यान की प्रक्रिया द्वारा इस श्लोक का जो रहस्य मुझे ज्ञात हुआ है उस सम्पूर्ण रहस्य को बिना कुछ अंश गुप्त रखते हुए मैंने यहाँ पर पाठकों एवं साधकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत कर दिया है। आशा है इस प्रज्वलित ग्रन्थ रत्न-दीप से अनेक लोगों को नया मार्ग, नयी दिशा मिलेगी और वे जीवन के सच्चे एवं उच्चत्तम लक्ष्य के प्रति अग्रसर होने में समर्थ होंगे।

---

१. श्लोक १० में शांभवीमुद्रा "अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि" की विधि से वर्णित है जब कि श्लोक १५ में वह "बहिर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि" की गुप्त विधि से रखी गयी है।

शांभवी मुद्रा के निम्नलिखत प्रकार हैं—

(१) बहिर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि।
(२) अन्तर्लक्ष्य अन्तर्दृष्टि।
(३) बहिर्लक्ष्य अन्तर्दृष्टि।
(४) अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि।
(५) बहिर्लक्ष्य होने पर भी दृष्टि लक्ष्य पर (बाहर में) नहीं, अपितु लक्ष्य के (बाहरी) प्रतिबिंब पर स्थिर रहती है।
(६) अन्तर्लक्ष्य होने पर दृष्टि लक्ष्य पर (भीतर में) नहीं, अपितु लक्ष्य के बाहरी प्रतिबिंब पर रहती है।
(७) लक्ष्यातीत लक्ष्य।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में मुझे बहुत से विद्वानों की अप्रकाश्य सहायता मिली है। मैं ऐसे सभी महानुभावों को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना विश्व के लब्धप्रतिष्ठ और विख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी ने लिख कर अपना अनुग्रह मुझ पर पुनः व्यक्त करने की कृपा की है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक और नाथसन्त साहित्य के प्रतिष्ठित अध्येता डा० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय ने योगिराज गोरक्षनाथ के जीवन, साधन और दर्शन पर एक विस्तृत लेख प्रकाशनार्थ देकर ग्रन्थ को अधिक उपयोगी बनाया है। उन्होंने ग्रन्थ के मुद्रण और प्रकाशन आदि की भी सारी व्यवस्था कर इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के लिए आर्थिक व्यवस्था करने में श्री मंगतू राम जयपुरिया (कानपुर), श्री कमल ठक्कर (कलकत्ता), श्री दीपककुमार माथुर (देहरादून), श्री जमनादास नेगांधी, श्री राजेन्द्र कक्कड़ (वाराणसी) ने स्मरणीय योग प्रदान किया है। ये सभी लोग परम धन्यवाद के पात्र हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ को इस रूप में प्रस्तुत करने में मैंने कुछ नहीं किया। वस्तुतः सब कुछ का कर्ता-धर्ता तो मूलतः वह परम सत्ता नाथ ही है—

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयिसन्न्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥
नाहं कर्ता सर्वमेतद् नाथैव कुरुते यथा।

—:o:—

प्रस्तावना

अमनस्क नाम का क्षुद्र ग्रन्थ योगशास्त्र के अंतर्गत एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बहुत वर्षों पहले इस ग्रन्थ के एकाधिक संस्करण प्रकाशित हुए थे। उनमें से बंगला लिपि में मुद्रित एक संस्करण मैंने देखा था। परंतु इस समय इस ग्रन्थ की उपलब्धि अत्यंत कठिन हो गयी है।

अधिकांश तंत्र ग्रन्थों के सदृश यह ग्रन्थ भी वक्ता और श्रोता के प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा गया है। इस रचना में श्रोता हैं मुनि वामदेव और वक्ता हैं कैलासवासी शंकर महादेव। कई लोगों के मत से यह ग्रन्थ गोरक्षनाथ का बनाया हुआ है। परंतु यह कहाँ तक ठीक है, यह नहीं कहा जा सकता। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है, पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में ९८ श्लोक हैं और इसमें तारकयोग का विवरण दिया हुआ है। उत्तरार्द्ध में ११२ श्लोक हैं जिसमें अमनस्कयोग का सविशेष व्याख्यान किया गया है। ग्रन्थकार के अनुसार अमनस्कयोग ही जीवन्मुक्ति का सोपान है। योग के दो प्रकार हैं — पूर्व तथा उत्तर। पूर्वयोग अर्थात् तारकयोग में मन रहता है परन्तु उत्तरयोग अर्थात् अमनस्क योग में मन बिलकुल नहीं रहता। उत्तरयोग ही मुख्य योग है। जैसे प्रचलित पातंजलयोग दर्शन में दो प्रकार के योग का विवरण मिलता है, यह भी ठीक उसी प्रकार का है।

भगवान् पतंजलि के अनुसार योग के संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात नाम के दो प्रकार हैं। असंप्रज्ञात योग ही मुख्य योग है, क्योंकि इसीमें चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है। यह असंप्रज्ञातयोग भवप्रत्यय असंप्रज्ञात नहीं है जो कि प्रकृतिलय के नाम से प्रसिद्ध है। यह उपायप्रत्यय है। उपाय शब्द से प्रज्ञा समझना चाहिए। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि से प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञा के निरोध से उपायप्रत्यय असंप्रज्ञातयोग समाधि होती है। यही योगपद वाच्य है। संप्रज्ञात समाधि में क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ वृत्तियों का निरोध होकर एकाग्र भूमि में स्थिति होती है। यह भी गौण दृष्टि से योगपद वाच्य है, क्योंकि इस भूमि में विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है और अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। परंतु मुख्य दृष्टि से यह भी पूर्ण योग नहीं है। जब एकाग्र भूमि में उपलब्ध प्रज्ञा का निरोध हो जाता है तभी सर्वचित्त-वृत्तिनिरोधरूप योग का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि पतंजलि की प्रक्रिया और वर्तमान ग्रन्थ की प्रक्रिया सर्वथा अनुरूप है। जैसे संप्रज्ञात भूमि में मन रहता है उसी प्रकार पूर्वयोग या तारक योग में भी मन रहता है। पक्षांतर में जैसे असंप्रज्ञात योग में मन नहीं रहता, उसी प्रकार उत्तर योग अथवा अमनस्कयोग में भी मन नहीं रहता। केवल मन की निवृत्ति होने से योग नहीं होता क्योंकि प्रकृतिलय की अवस्था मे भी मन का लय होता है। अथच वह योग नहीं है। मन का लय तो होना चाहिए, इसमें संदेह नहीं, परन्तु सत्यज्ञान का भी उदय होना चाहिए। अमनस्कयोग में भी यही बात है, क्योंकि अमनस्क में आत्मा का साक्षात्कार होता है।

लय के प्रसंग में प्राण तथा मन का सम्बन्ध विचारणीय है। हठयोगी लोग कहते हैं कि प्राण का लय हो जाने से मन का लय होता है। वे लोग यह भी मानते हैं कि मन का लय हो जाने से प्राण का लय होता है। दोनों में परस्पर सम्बन्ध है। हठयोगी संप्रदाय प्राण के लय से मन के लय तक पहुँचने का उद्यम करते थे। ये लोग समझते हैं कि प्राण का लय क्रियासापेक्ष है। देह, इंद्रिय, मन प्रभृत्ति की क्रियाएं परस्पर संबद्ध हैं। देह तथा प्राण का निरोध हो जाने पर मन का निरोध हो सकता है। इसलिए ये लोग अपने प्रयत्न से हठक्रिया के द्वारा इनका निरोध करने के लिए प्रयत्न करते हैं। यह निरोध लयात्मक है। तारकयोग में दिखाया गया है कि विभिन्न मात्राओं में लय के विभिन्न प्रकार के फल होते हैं। यह लय के कालगत तारतम्य का विवरण है। प्राण के अल्प समय के लिए निरुद्ध होने पर जिस प्रकार की सिद्धि उत्पन्न होती है, वहीं, उसी प्रकार, अधिक समय के लिए निरुद्ध होने

पर उससे उन्नत कोटि की सिद्धि का संपादन होता है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार की सिद्धियों का उदय प्राण के नियंत्रणकाल की अवधि के ऊपर निर्भर है। यहाँ तक कि २४ वर्ष तक प्राण का निरोध होने पर शक्ति तत्त्व तक आयत्त हो सकता है। इस प्राण के लय के समान ही मन का भी लय होता है। प्राण का जहाँ लय होता है, उसी स्थान पर मन का भी लय होता है। इसलिए सिद्धि के उदय के विषय में प्राण के लय के साथ मन का लय भी संबंधित है। परन्तु यह विचारणीय है कि प्राण तथा मन का लय साथ-साथ सम्भव होने पर भी अंतिम भूमि की प्राप्ति तक यह नहीं हो सकती। प्राण के लयस्थान में मन का भी लय हो जाता है, यह सत्य है। परन्तु यह अपरा सिद्धि है। यह किसी न किसी समय नष्ट हो जायगी, मन पुनर्वार लौट आयेगा। मन का लय तभी यथार्थ लय कहा जा सकता है, जब वह पुनरावर्तन न करे। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ १५.६ ॥

यह लयस्थान कोई खण्ड तत्त्व नहीं हो सकता। यही ब्रह्मतत्त्व वा आत्मतत्त्व है। यहीं मन का लय करना चाहिए। उसके प्रभाव से मन हमेशा के लिए शांत हो जायगा और उसकी पुनरावृत्ति नहीं होगी। अमनस्कयोग का यही लक्ष्य है। प्राण का लय केवल शक्ति तक है। यह प्रकृति लय के अनुरूप है और मन का लय ब्रह्म तक है। यही यथार्थ योग है। पूर्व योग में केवल शक्ति तक स्थिति होती है। उत्तरयोग में पूर्ण ब्रह्मरूपेण स्थिति होती है। मन की पुनरावृत्ति नहीं होती। यह मन निवृत्ति का सहज तथा सरल उपाय है। सद्गुरु के बिना इस सहज अवस्था का उदय नहीं होता। मन का लय हो जाने से अनंत प्रकार के विकल्पजाल अपने आप शांत हो जाते हैं। प्राण भी शांत हो जाता है इंद्रियों का उपशम हो जाता है। अमनस्क के रचयिता के अनुसार यही राजयोग है जिसके पूर्व के योग को प्राणयोग या हठयोग कहा जाता है।

यहीं एक प्रश्न का उदय होता है। यह विचारणीय होने पर भी, यहाँ इस समय इसकी मीमांसा करना कठिन है। मालूम पड़ता है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ में घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी दोनों में कुछ अंश में वैलक्षण्य था। मत्स्येन्द्रनाथ जो मछंद के नाम से भी प्रसिद्ध हैं और जिनका उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने तंत्रालोक में किया है, कौलमत के प्रवर्तक थे, ऐसी प्रसिद्धि है। कौलमत के आदि प्रवर्तक ऋषि दुर्वासा थे, परन्तु

वर्तमान युग में इस मत का पुनरुत्थान मत्स्येंद्रनाथ ने ही किया था। हठयोग विषयक ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि मत्स्येंद्रनाथ ने स्वच्छंद भैरवी से आगम प्राप्त किया था। कौल साहित्य पर मत्स्येन्द्रनाथ का विशेष प्रभाव पड़ा हुआ है। इस मत में दूतीयाग की विशेष आवश्यकता समझी जाती है। यह शाक्त धर्म के अनुकूल मार्गविशेष है। परन्तु अमनस्क ग्रन्थ में गुरुतत्व के विचारप्रसंग में इसके ऊपर कटाक्षपात किया गया है। अर्थात् कौल मार्ग का गुरू यथार्थ गुरु नहीं हो सकता। यही उसका आशय है। प्राचीन हठमार्गः जो मार्कण्डेय ऋषि द्वारा प्रवर्तित था, अब लुप्त हो गया है परन्तु मत्स्येंद्र द्वारा प्रवर्तित हठयोग इस समय प्रचलित है। यह हठमार्ग प्राण के नियंत्रण का उपदेश देता है। इसका तत्काल का लक्ष्य है शक्ति को आयत्त करना। परंतु अमनस्कसम्मत राजमार्ग का उद्देश्य है मन का नियंत्रण। केवल नियंत्रण नहीं प्रत्युत मन का आत्यंतिक लय, जो कि ब्रह्मतत्व में ही सम्भव है, शक्ति तत्त्व में नहीं। गोरक्ष शिवभाव के अनुगामी हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए अमनस्कसम्मत गुरु अपने स्वातंत्र्य के बल से शिष्य की आत्मा की मनोलय के विषय में सहायता करते हैं। मन का लय हो जाने पर प्राण का लय अपने आप होता है। इसके लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती।

यह भी ख्याल रखना चाहिए कि यह तारक योग पतंजलिनिर्दिष्ट तारकज्ञान से विलक्षण है। पतंजलि ने कहा है 'तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयं अक्रमं च इति विवेकजं ज्ञानम्'—यह तारकज्ञान अक्रमज्ञान है। विवेकजज्ञान का ही यह एकदेश है। अक्रम शब्दसे यह पता चलता है कि यह काल के अधीन नहीं रहता है, क्योंकि मन की क्रिया में क्रम की अपेक्षा रहती है।

यह अमनस्क प्रचलित उन्मनी से अभिन्न है इसमें संदेह नहीं है। परन्तु आगमोक्त उन्मनी में जो वैलक्षण्य दिखाया गया है इसमें उसका निर्देश नहीं है। इस पर भी दोनों का स्वरूप अभिन्न ही प्रतीत होता है, क्योंकि आगमवर्णित उन्मनी स्थिति प्रणव के पूर्ण विकास के अनंतर शब्दातीत परम स्थिति है। ० अ उ म, बिंदु, अर्द्धचन्द्र, निरोधिका नाद नादांत, व्यापिनी, समना, उन्मना—ये ही सब प्रणव की कलाएं हैं। इनमें से समना तक आवरण समझना चाहिए। बिंदु अर्द्ध मात्रा रूप से ग्राह्य है। उसके बाद प्रत्येक स्थिति में काल सम्बन्धरूप मात्रा क्षीण होती रहती है। इस प्रकार से समना भूमि में काल की परम अपकृष्ट मात्रा का सम्बन्ध रहता है। यह

मात्रा एक मात्रा का २५६ वाँ अंश अथवा किसी-किसी मत में एक मात्रा का ५१२ वाँ अंश माना जाता है। इसके बाद मन के अंश का अर्पण हो जाता है। तब समना भूमि समाप्त हो जाती है। परन्तु समना भूमि अतिक्रम करने से अर्थात् समना भूमि का अतिक्रम करने पर भी, अर्थात् मनोनिवृत्ति पूर्णरूपेण सिद्ध होने पर भी उन्मना का उदय नहीं होता। मन का न रहना अर्थात् मन का सम्यक् लय आत्मशुद्धि का चरम उत्कर्ष है। अमनस्कार कहते हैं कि यहाँ ही पूर्णता है, परन्तु आगम के मत से यहाँ पूर्णता नहीं है क्योंकि आगम की दृष्टि से आत्मा के तीन प्रकार के आवरण विद्यमान हैं—१-प्रकृति का गुणावरण, २-निर्गुण आवरण में माया का आवरण, ३-मायातीत अवस्था में भी शुद्ध माया या महामाया का आवरण जिसको बैन्दव आवरण नाम से भी कहीं-कहीं कहा गया है। समना भूमिभेद दो जाने पर ये सब आवरण नहीं रहते। आणव मल की निवृत्ति पूर्णतया जब तक न हो तब तक सर्वावरणों का मूल रह ही जाता है। यह परम कैवल्य रूप से प्रसिद्ध स्थान है। आत्मा परम शुद्ध केवली रूप में यहाँ प्रकाशमान होती है। यह निर्वाण-पद है, यह परिनिर्वाण पद है, यह भी सत्य है परन्तु यह भी पूर्णत्व नहीं है क्योंकि यहाँ सर्वावरण का मूल आणवमल अब भी आभासरूपेण रह जाता है। इसलिए यहाँ शिवत्व का उदय नहीं होता। अविद्यानिवृत्ति, दुःखनिवृत्ति (ऐकांतिक, आत्यंतिक) तथा क्लेशनिवृत्ति, सब कुछ हो गया, सिद्ध अवस्थाओं का भी अतिक्रम हो गया तथापि यह पूर्णत्व नहीं है, क्योंकि इसमें उन्मनी शक्ति का विकास नहीं है। मनोनिवृत्ति और उन्मनी शक्ति का विकास एक नहीं है। किसी-किसी की मनोनिवृत्ति पूर्णतया हो जाने पर भी उन्मनी शक्ति का विकास नहीं होता। जिसका ऐसा विकास नहीं होता, उसका परम शिवमय धाम में प्रवेश असम्भव है। उन्मनी शक्ति में प्रवेश ही श्री भगवान् के अनुग्रह का चरम निदर्शन है। परन्तु आगम के अनुसार उन्मनी में प्रवेश होने से ही चरम स्थिति नहीं होती क्योंकि उन्मनी कलाओं के अंतर्गत है। उन्मनीकला भी तो कला ही है। उन्मनी स्थिति को ही त्रिशूल पद से कहा जाता है जिसके ऊपर काशी नित्य प्रकाश रूप में विद्यमान रहती है। इसीलिए अंत में उन्मनी की भी निवृत्ति हो जाती है। यही निष्कल परमपद है। यहाँ कहा जा सकता है कि वर्तमान युग मे श्रीअरविंद के प्रयोगविज्ञान में 'सुपरमाइण्ड' का जो स्थान है उससे 'ओवरमाइण्ड' का भेद है, इस प्रकार, इसमें भी उन्मना का वैशिष्ट्य है। उन्मना-निवृत्ति हो जाने पर 'शांतं शिवम् अ॰यम्' के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। अमनस्क का लक्ष्य यही होगा,

परन्तु अमनस्ककार ने केवल मनोनिवृत्ति पर ही जोर दिया है। मनोनिवृत्ति हो जाने पर गुरुकृपा का चरम लक्ष्य स्फुरित हो जाता है।

यह ग्रन्थ अपूर्व है। इसमें शांभवी धरायंत्र प्रभृति प्रक्रियाओं के विषय में विलक्षण तथा विशिष्ट बातोंकी चर्चा की गयी है जो योगमार्ग के चलनशील पथिकों के लिए उपयोगी होगा। ग्रन्थ में अनुवाद तथा मुद्रण में स्थान-स्थान पर कुछ स्खलन लक्षित हुआ है। आशा है यह पुनः प्रकाशन के समय ठीक हो जायगा।

२। ए, सिगरा, वाराणसी।
६ दिसंबर १९६७। } —गोपीनाथ कविराज

—:०:—



चन्द्रार्कद्रुहिणाच्युमम्बुजसल्लोकेशकंसारिभिः
कालीभैरवसिन्धुरास्यहनुमत्क्रोडैः परीवारितम् ।
वन्दे तं नवनाथसिद्धमहितं मेघाहिमालासनं
मालापुस्तकशूलडिण्डमधरं गोरक्षमृत्युञ्जयम् ।।

वन्दना

गोरक्षमालं गुरुशिष्यपालम्,
शेषाहिमालं शशिखण्डभालम् ।
कालस्य कालं जितजन्मजालम्,
वन्दे जटालं जगदब्जनालम् ॥

वाहनरूप गौ (महोक्ष) की रक्षा करनेवाले अर्थात् स्वयं भगवान् शंकर उनकी भा, महातेजोरूप विभूति, साधक भक्तों को प्रदान करनेवाले अथवा महान् योगी के रूप से विख्यात जो गोरक्ष (गोरक्षनाथ) हैं उनकी योगजनित महादीप्ति साधक योगियों को प्रदान करनेवाले अथवा गौ अर्थात् इन्द्रियों की उनके तत्-तत् विषय (रूप, रस आदि) से रक्षा करनेवाले योगिजनों को महातेजोरूपा विभूति प्रदान करनेवाले अथवा गौओं के रक्षकों को पुण्य-प्रभा से उद्भासित करनेवाले, गुरु और शिष्य दोनों को विघ्न-बाधाओं—आधिभौतिकादि उपद्रवों—से बचानेवाले या उनका पालन करनेवाले, गुरु-शिष्य-परम्परा को निरन्तर अक्षुण्ण रखनेवाले, शेषनाग की माला धारण करनेवाले, मस्तक पर चन्द्रलेखा धारण करनेवाले, काल के भी काल (महाकालस्वरूप), जन्म, जरा, मरण आदि की परम्परा पर विजय प्राप्त कर चुके अर्थात् अनादिनिधन एवं जैसे नाल (कमलनाल) कमल का अधार है वैसे इस जगत् के के अधारभूत जटाधारी भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ ।

गोरक्षनाथ
का
जीवन, दर्शन और साधना

नवनाथों की जो विभिन्न सूचियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं, उनमें से अनेक में गोरक्षनाथ का नाम अन्तर्गणित है। चौरासी सिद्धों की भी जो सूचियां अभी तक मिली हैं, उनमें से गोरक्षनाथ का वर्ण-रत्नाकर की 'चौरासी सिद्ध वर्णना' में दूसरा और सस्क्य विहार की तिब्बती सूची में नौवां स्थान है। हठयोगप्रदीपिका में महासिद्धों के गणनाप्रसंग में आदिनाथ, मत्स्येन्द्र, शाबरानन्द, भैरव, चौरंगी, मीन के बाद गोरक्ष का ही स्मरण किया गया है।[1] सस्क्य विहार की सूची का अनुसरण करनेवाली बौद्ध सिद्धों की जो चित्रावली महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सबसे पहले गंगा पुरातत्त्वांक[2] में

---

१. तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० २१०-२११, २१४।

२. पृ० २१६ से आगे, जनवरी १९३३, गंगा कार्यालय, कृष्णगढ़, सुलतानगंज, भागलपुर, बिहार।

प्रकाशित करायी थी, उसे उन्होंने अपनी पुस्तक पुरातत्त्व निबंधावली[३] में भी प्रकट किया। इन दोनों चित्रावलियों में उनका क्रमिक स्थान नौवां है। मत्स्येन्द्रनाथ का नाम भी पर्याप्त प्रसिद्ध है। मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु रूप में प्रसिद्ध हैं। प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः दोनों महापुरुषों के नाम साथ-साथ स्मरण किये गये हैं। महार्णवतन्त्र,[४] सुधाकरचंद्रिका,[५] कौलावलीतन्त्र,[६] श्यामारहस्य[७] में इन दोनों महासिद्धों का उल्लेख मिलता है। मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की गणना मानवगुरुओं में की गयी है। ये दोनों ही महासिद्ध योगिराज और नाथाचार्य माने गये हैं। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में मत्स्येन्द्रनाथ के नाम के विभिन्न रूपान्तर मिलते हैं :—

मत्स्येन्द्रनाथ—(महार्णवतंत्र, योगिसंप्रदायाविष्कृति, सुधाकरचंद्रिका)

मीन, मीनो—(विभिन्न तंत्र ग्रन्थ, श्यामारहस्य, वर्णरत्नाकर।)

मीनपा, मीनपाद—(सस्क्य विहार की सूची, कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीर तन्त्र)

मत्स्येन्द्रनाथ—(योगविषय-सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स)।

मच्छघ्नपाद, मच्छेन्द्रपाद, मत्स्येन्द्रपाद—(कौलज्ञाननिर्णय)।

मच्छेन्दपाद—(अकुलवीर तंत्र, बी.)।

मत्स्येन्द्र—(कुलानंद, हठयोगप्रदीपिका)।

मच्छिन्द्रनाथपाद—(ज्ञानकारिका)।

मच्छन्द—(तन्त्रालोक—अभिनवगुप्त रचित)।

इसी प्रकार गोरक्षनाथ के भी नाम के विविध रूपान्तर हैं—

गोरक्ष—(हठयोगप्रदीपिका, विभिन्न तन्त्र, श्यामारहस्य)।

गोरक्षनाथ—(महार्णवतंत्र, योगीसम्प्रदायाविष्कृति, सिद्धसिद्धांतपद्धति, अमरौघप्रबोध, योगमार्त्तण्ड)।

---

३. पृ० १४४—ग, इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग, १९३७।

४, ५, ६, ७—नाथ सम्प्रदाय—डा० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० २४, ७६, २४।

गोरक्षणाथ—(वर्णरत्नाकर)।

गोरक्षपा—(सस्क्य विहार की सूची)।

नामों के ये रूपान्तर देने के दो प्रयोजन हैं। पहला तो यह कि प्राचीन साधनात्मक और दार्शनिक ग्रन्थों में इन दोनों महासिद्धों का स्मरण यह बतलाता है कि ये दोनों ही अपने समय के बहुत प्रसिद्ध और अतिमान्य महासिद्ध थे और विभिन्न साधन संप्रदायों के ग्रंथ इन्हें आदर के साथ स्मरण करते थे। दूसरी बात यह है कि तन्त्र प्रभावापन्न सभी साधनसंप्रदायों ने इनका नाम अपनी सूची में सम्मिलित कर लिया है, जैसे ये उन्हीं के संप्रदाय के हों। इसीलिए इनके नामों के इतने रूप मिलते हैं। इनकी प्रसिद्धि काल और देश दोनों ही दृष्टियों से बहुत व्यापक थी। ऊपर के ग्रन्थों में योग, तन्त्र और शैव ग्रन्थ अधिक हैं। इनमें से अधिकांश (जैसे हठयोगप्रदीपिका १४ वीं शताब्दी के पूर्व, वर्णरत्नाकर १३ वीं-१४ वीं शताब्दी, कौलज्ञाननिर्णय के ग्रन्थ ११ वीं शताब्दी) १४ वीं शताब्दी के पूर्व के हैं। तन्त्रालोक का समय ११ वीं शताब्दी का पूर्व भाग है। अभिनवगुप्त के उल्लेख से इतना पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ १० वीं शताब्दी के अन्तिम दशक (९९१ ई०) के पूर्व तक पर्याप्त प्रसिद्ध और पूजित हो चुके थे। जालंधरनाथ राजा देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समकालीन थे। इस प्रकार ये तीनों महासिद्ध ९ वीं-१० वीं शताब्दी के पूर्व प्रसिद्ध हो चुके थे। वैसे सिद्धकायावाले महासिद्धों का कालनिर्णय करना सांप्रदायिकों की दृष्टि में उपहासास्पद है। बहुत से आधुनिक दृष्टिवाले नाथपंथी गोरक्ष को वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का समकालीन मानते हैं। कुछ पौराणिक नाथपंथी गोरक्ष को यदुवंशी श्रीकृष्ण के एक विवाह का साक्षी मानते हैं और कुछ लोगों का विश्वास है कि उन्होंने चारों युगों में अलग-अलग स्थानों में अवतार भी लिये थे।

इतना विस्तृत उल्लेख मिलने पर भी गोरक्षनाथ का प्रामाणिक जीवनवृत्त आज भी उपलब्ध नहीं है। उनके जन्मादि के सम्बन्ध में नेपाल में प्रचलित एक कथा के अनुसार महादेव ने एक पुत्रकांक्षिणी नारी को विभूति दी। नारी ने अविश्वास कर उसे गोबर के ढेर में फेंक दिया। बारह वर्ष बाद महादेव के पुनः अनुसंधान के

फलस्वरूप उस स्थान से गोरक्ष का आविष्कार हुआ। इन्हीं गोरक्ष-नाथ ने मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। बाद में गोरक्ष अपने गुरु के साथ नेपाल गये। वहां अनादृत होने पर उन्होंने मेघसमूहों को आवद्ध कर अनावृष्टि कर दी। अचानक उस मार्ग पर मत्स्येन्द्र के आने पर गोरक्षनाथ साष्टांग दण्डवत् करने के लिए उठे। मेघ मुक्त हो गये और वहाँ वृष्टि हुई।[८] उपर्युक्त जन्म सम्बन्धी कथांश में कहीं कहीं महादेव के स्थान पर मत्स्येन्द्रनाथ का नाम मिलता है और पुत्रकांक्षिणी नारी के ब्राह्मणी होने का भी कहीं कहीं उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त कथा से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि गोरक्ष का जन्मवृत्तांत रहस्यमय है। दूसरी यह कि नेपाली परंपरा के अनुसार मत्स्येन्द्र गोरक्ष के गुरु थे। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार गोरक्ष ईश्वरसन्तान थे। उनका चरित्र अत्यन्त शुद्ध और निर्मल था। स्वयं देवी भगवती उनके चरित्र की परीक्षा लेने में पराजित हुई थीं।[९] उनके जन्मस्थान और जीवनवृत्त के विषय में विविध मत प्रचलित हैं। इनका संक्षेप इस प्रकार है।

१—नेपाल, पंजाब, गोरक्षपुर आदि को उनका जन्मस्थान माना जाता है।

२—निराकार निरंजन के धर्म से गोरक्ष की उत्पत्ति हुई। ये मत्स्यजात मत्स्येन्द्र के पिता थे। इन्होंने अपने पाप का प्रक्षालन करने के लिए गुरु का अन्वेषण किया और अन्त में अपने पुत्र का ही गुरु रूप में वरण किया।

३—गोदावरी के तट पर एक ब्राह्मणी के गर्भ से गोरक्ष का जन्म हुआ और बारहवें वर्ष के अन्त में मत्स्येन्द्र द्वारा आंतर्धानिक रीति से संप्रदान हुआ। गोरक्ष ने गोसेवा की और योगशक्ति प्राप्त की।

---

८. नाथ संप्रददायेर इतिहास दर्शन ओ साधनाप्रणाली—डा० कल्याणी मल्लिक, पृ० २८०; कौलज्ञाननिर्णय—डा० प्रबोधचन्द्र बागची, भूमिका पृ० १२।

९. नाथ संप्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधना प्रणाली—पृ० २६।

४—स्कंदपुराण में गोरक्षावतार की कथा मिलती है।

५—गोरक्षनाथ गोपीचन्द्र की माता (मयनामती) के गुरु रूप में स्वीकृत हैं।[१०]

६—योगिसंप्रदायाविष्कृति में उन्हें गोदावरी तीर के किसी चन्द्रगिरि में उत्पन्न बताया गया है।

७ दरबार लाइब्रेरी, नेपाल के गोरक्षसहस्रनाम नामक एक लघुकाय हस्तलेख के एक श्लोक के अनुसार दक्षिण दिशा में स्थित किसी वड़व नामक देश में महामन्त्र के प्रसाद से महाबुद्धिशाली गोरक्षनाथ का अभ्युदय हुआ था।

८—क्रुक्स और ग्रियर्सन द्वारा उद्धृत एक परंपरा के अनुसार गोरक्षनाथ सत्ययुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरक्षपुर में, द्वापर में द्वारिका के भी आगे हुरमुज में और कलिकाल में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे।

९—बंगाल में प्रचलित एक विश्वास के अनुसार गोरक्षनाथ उसी प्रदेश में उत्पन्न हुए थे।

१०—नेपाली परम्पराओं के अनुसार गोरक्षनाथ पंजाब से नेपाल गये थे।

११—गोरखपुर के महन्त के अनुसार गुरु गोरखनाथ टिला (झेलम, पंजाब) से गोरखपुर आये थे।

१२—नासिक के योगियों का विश्वास है कि वे पहले नेपाल से पंजाब आये और बाद में नासिक की ओर गये थे।[११]

१३—सम्प्रदाय में टिला के प्राधान्य को देखकर ब्रिग्स ने अनुमान किया है कि गोरक्षनाथ सम्भवतः पंजाब के निवासी रहे होंगे।

१४—कच्छ में प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ आये। ग्रियर्सन के अनुसार धर्मनाथ गोरक्षनाथ के सतीर्थ थे।

---

१०. वही, पृ० २९–३०।

११. नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९६-९७।

१५-ग्रियर्सन का अनुमान है कि गोरक्षनाथ सम्भवतः पश्चिमी हिमालय के रहने वाले थे।

१६-गोरक्षनाथ ने उड़ीसा की भी यात्रा की थी और मल्लिकानाथ को शिष्य बनाया था।[१२]

उपर्युक्त विभिन्न मतों की परीक्षा कर गोरक्षनाथ के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१—गोरक्षनाथ के जन्मस्थान के सम्बन्ध में अधिकांश मत और कथाएँ भारत के पश्चिमोत्तर भाग की ओर संकेत करती हैं।

२—उन्होंने अपने जीवन-काल में नेपाल, बंगाल, कच्छ, काठियावाड़, नासिक, उड़ीसा आदि की यात्राएं की थीं।

३—यात्राओं के सम्बन्ध में प्रचलित विश्वासों और कथाओं से ऐसा अनुमान होता है कि गोरक्षनाथ पंजाब से गोरक्षपुर गये। वहाँ से वे नेपाल गये। नेपाल से वे पुनः पंजाब लौटे और फिर नासिक के लिए प्रस्थान किया।

४—बंगाल की अपेक्षा पंजाब या भारत के पश्चिमोत्तर भाग से उनका अधिक संबन्ध रहा।

५—उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे।

६—जन्म किस वंश में हुआ, यह विवादास्पद है, तथापि प्रवाद उनके ब्राह्मण होने की ओर संकेत करते हैं।

७—माता-पिता के संबन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं।

केवल प्रवादों, किंवदन्तियों और विश्वासों के आधार पर निष्कर्ष निकालने के कई कारण हैं। उपर्युक्त विवरणों से यह प्रकट है कि गोरक्षनाथ ने अकालसंन्यास लिया था अथवा वे बहुत बाल्यावस्था में ही सन्यस्त हो गये थे। अकालसंन्यास लेनेवाले बहुत से आचार्यों, संन्यासियों की चर्चा बहुत पुरानी हो चुकी है। दूसरी बात यह है कि संन्यासी होना वस्तुतः जन्मान्तर माना जाता है। प्रायः संन्यासी होने के बाद नामादि का भी परिवर्तन होता है। दीक्षाओं के अनुसार भी नामों में परिवर्तन होते हैं और फिर नाथ-

१२. नाथ और संत साहित्य—डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, परिशिष्ट २।

संप्रदाय में तो नादपरंपरा ही स्वीकार की जाती है, बिंदुपरंपरा का यहाँ कोई महत्व नहीं। ऐसी स्थिति में यदि गोरक्षनाथ का जीवनवृत्त उपलब्ध नहीं तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। संन्यासी होने के बाद लोग अपने पूर्ववृत्त, जन्मस्थान, वंश, कुल, माता-पिता आदि की चर्चा नहीं करते। अतः ऐसी स्थिति में केवल विश्वास, किंवदन्तियाँ, प्रवाद आदि ही आधार रह जाते हैं।

सांप्रदायिकों द्वारा गोरक्ष नाम की विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इन व्याख्याओं का कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। इन व्याख्याओं का कुछ कथाओं से भी संबन्ध स्थापित किया जा सकता है। ये साधनापद्धति और दर्शन से भी संबन्ध रखती हैं और किसी क्रिया अथवा पक्ष की ओर संकेत करती हैं। उदाहरण के लिए गोरक्षनाथस्तोत्र में कहा गया है—" 'ग'-कार गुणसंयुक्त, 'र'-कार रूपलक्षण, 'क्ष'-कारेण अक्षय ब्रह्म श्री गोरक्ष नमोऽस्तु ते।" इसके द्वारा गोरक्षशब्द का माहात्म्यवर्णन किया गया है।[१३] गोरख उपनिषद् में दो स्थलों पर दो भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं। प्रथम के अनुसार गोरक्षनाथ अन्तर्यामी होकर संसार के जीवों की इन्द्रियों (गो) की रक्षा करते हैं। दूसरे स्थल के अनुसार गो शब्द का अर्थ वाक् ब्रह्म है। 'र' का अर्थ है रक्षा करते हैं। 'क्ष' का अर्थ क्षयरहित अर्थात् अक्षय वाक् ब्रह्म की रक्षा करनेवाले हैं श्री गोरक्षनाथ।[१४] गोरक्षउपनिषद् की यह दूसरी व्याख्या गोरक्षस्तोत्र से मिलती-जुलती है। एक आधुनिक सांप्रदायिक रचना 'गोरक्षशब्द निरुक्तिः' में कहा गया है—'गां रक्षतीति गोरक्षः, रक्षतीति रक्षः, गवां रक्षः गोरक्ष—यावत्गोपदवाच्य की जो रक्षा करता हो, उसे गोरक्ष कहते हैं अर्थात् जितने भी गो शब्द के अर्थ हैं उन अर्थों की रक्षा करने वाले का नाम गोरक्ष है।[१५]

---

१३. नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना प्रणाली—पृ० २९; गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह—पृ० ४२।

१४. सिद्धसिद्धांतपद्धति एँड अदर वर्क्स आव नाथयोगीज—डा० कल्याणी मल्लिक पृ० ७२.–७३।

१५. गोरक्ष ग्रंथमाला का ८२ वां पुष्प, पृ० ६, पांच पुस्तिकाओं का संग्रह, प्रकाशक—योगप्रचारिणी महासभा, गोरक्षटीला, काशी।

इस अन्तिम रचना 'गोरक्षशब्दनिरुक्तिः' में ऐसा दिखाया गया है कि गोरक्ष शब्द बहुत प्राचीन साहित्य में मिलता है और उद्धरण-कर्ता का अभिप्राय यह मालूम पड़ता है कि वह इस प्रयत्न से गोरक्ष की प्राचीनता सिद्ध करना चाहता है। प्रमाण के लिए अथर्ववेद, ब्रह्माण्डपुराण, स्कन्दपुराणान्तर्गत केदारखण्ड (अध्याय ४२, ४५, ४६, ७४), शिवपुराण, महाकाल योगशास्त्र कल्पद्रुम, गोरक्षगीता, मार्कण्डेयपुराण, शाक्तप्रमोद आदि के विभिन्न उद्धरणों को प्रस्तुत कर यह कहा गया है कि गोरक्षनाथ का निवासस्थान केदारखण्ड के दक्षिण भाग में है, जहाँ सर्वदा अत्यन्त उष्ण जल विद्यमान रहता है। अनुमानतः यह स्थान कांगड़ा अथवा हिंगलाज हो सकता है। शिवपुराण के अनुसार गोरक्षनाथ शिवावतार थे। गोरक्षगीता में बताया गया है कि इन्द्राणी के पातिव्रत की रक्षा में गोरक्षनाथ ने सुराचार्य बृहस्पति की सहायता की थी। मार्कण्डेयपुराण में मार्कण्डेय और मत्स्येन्द्रादि के द्विविध हठयोगी मतों की ओर संकेत है। स्कंदपुराण के केदारखण्ड में नवनाथों में गोरक्ष की भी गणना की गयी है। प्राणतोषिणी में नवनाथ वर्णनप्रसंग में विमलानन्दनाथ नाम से श्रीनाथ (गोरक्षनाथ) का ही स्मरण किया गया है। इसी प्रकार शाक्तप्रमोद में भी श्रीनाथ का वर्णन है। स्कंदपुराण के हिमवत्खण्ड में, विरूपाक्षतीर्थयात्रा के प्रकरण में भी गोरक्ष की सिद्धि-प्रदायकता का वर्णन है।[१६] गोरक्ष शब्द की जो व्याख्याएं दी गयी हैं और विभिन्न ग्रंथों में जिन-जिन प्रसंगों में उनके उल्लेख मिलते हैं, उनसे श्रीगोरक्षनाथ की साधनात्मक असाधारणता, चारित्रिक उच्चता, हठयोगाचार्यता की ओर संकेत होता है।

गोरक्षनाथ के जीवनवृत्त पर प्रामाणिक सामग्री के अभाव में उनके चरित्र और व्यक्तित्व पर भी प्रामाणिक रूप में कुछ कहना कठिन है। उनके नाम से प्राप्त रचनाओं, किंवदन्तियों, विश्वासों, कथाओं के आधार पर कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। कोई प्रामाणिक सामग्री न होने के कारण ही विद्वान् लोग गोरक्ष-नाथ के चरित और व्यक्तित्व पर अभी तक कुछ न लिख सके थे। लेकिन पूर्ण अभाव की स्थिति में यदि कुछ अनुमान के आधार पर

---

१६ वही, पृ० ८–१२।

ही कह लेने का अवसर मिल जाय तो उसे पूर्ण लाभ समझा जाय, इसलिए कुछ विद्वानों ने प्रयास किया। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरखनाथ को शंकराचार्य के बाद दूसरा महिमाशाली व्यक्तित्व-वाला महापुरुष घोषित किया। बाद में विद्वानों ने तत्कालीन परि-स्थितियों का मूल्यांकन किया और यह स्थिर किया कि जिस समय भारतवर्षीय धर्मसम्प्रदायों में वामाचार, पंचमकार के परम परि-शुद्ध और साधनोन्नतिकारी रूप का दुरुपयोग और कुरूपोपस्थापन होने लगा था और उसे मनुष्य की विगर्हित वासनाओं की पूर्ति का साधन समझा जाने लगा था, उस समय साधना की पवित्रता, चरित्र की परमोच्चता, संयमपूर्ण जीवन की शक्तिमत्ता और आडं-बररहित जीवन की महिमा का उद्घोष गोरक्षनाथ ने ही किया। वस्तुतः प्राचीन तांत्रिक साधना-परम्परा और उसके अवस्थागत क्रमिक विकास के महत्व को गोरक्षनाथ अच्छी तरह जानते थे। इस-लिए उन्होंने तांत्रिक साधना-गत मूल सिद्धान्तों, जैसे गुरु शिष्यवाद, दीक्षा, परीक्षा, अधिकारभेदवाद की शैव संप्रदायों में पुनः पूर्ण प्रतिष्ठा की क्योंकि उस समय अशैव बौद्धादि सम्प्रदायों में इन नियमों और सिद्धान्तों के उल्लंघन से तांत्रिक साधना का विगर्हित रूप प्रकट हो रहा था। गोरक्षनाथ की संस्कृत और हिन्दी दोनों प्रकार की रचनाओं में उपर्युक्त नियमों के प्रमाण पुष्कल परिमाण में प्राप्त हो सकते हैं। गोरक्षनाथ ने दूसरा महत्वपूर्ण कार्य शैव सम्प्रदायों का संगठन करके सम्पन्न किया। बौद्धों की दार्शनिक क्षेत्र में पराजय तो कुमारिल और शंकराचार्य प्रमाणित कर चुके थे, लेकिन सांप्रदायिक और सामाजिक क्षेत्र में बौद्धों का अब भी बड़ा प्रभाव था। बौद्ध संन्यासियों का प्रभाव हर्षवर्धन के समय तक कितना था, यह इतिहास स्पष्ट बतलाता है। संन्यासियों में उनकी संख्या सबसे ज्यादा थी। लेकिन शंकराचार्य के बाद भी शैव संन्या-सियों का संगठन न हो पाया था और कालामुख, कापालिक, पाशु-पत, लिंगायत आदि अनेक सम्प्रदाय तत्कालीन बौद्धों की तरह जन-समाज में भय, शंका, घृणा आदि की दृष्टियों से देखे जाते थे। समाज की साधनागत और धर्मगत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने की शक्ति इनमें समाप्त हो चली थी। यों कहा जा सकता है कि इनकी सामाजिक उपयोगिता समाप्त हो गयी थी।

अतः ये भी शक्तिहीन होते जा रहे थे। उसी समय काश्मीर शैव दर्शन और साधना का विकास हो रहा था। उसमें कई आचार्यों का अभ्युदय हो चुका था। इन सारी आवश्यकताओं और परिस्थितियों को भली भाँति परख कर गोरक्षनाथ ने सदाचारपरायण, संयमपूर्ण परम्परागत शैव दर्शन और साधना पर आधारित और जीर्णप्राय शैव सम्प्रदायों से संगठित सिद्धमत अथवा नाथ-योगी सम्प्रदाय का समारंभ किया। बहुत पहले से ही लकुलीश, पाशुपत, लिंगायत, कालामुख आदि वेदबाह्य घोषित हो चुके थे। शंकराचार्य की शैवता और वेदानुकूलता तो गोरक्षनाथ के पहले से ही घोषित थी। अतः इन तथाकथित वेदबाह्य, जीर्णप्राय शैव सम्प्रदायों का नये संगठित रूप में पुनरुज्जीवन आवश्यक था ही जो गोरक्षनाथ के हाथ से सम्पन्न हुआ।

ये महत्वपूर्ण कार्य सामान्य चरित्रवाले व्यक्ति से सम्पन्न नहीं हो सकते थे। आदर्श के अनुकूल अपने चरित्र को खरा उतार कर धर्मप्राण जनता के सम्मुख प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति इस प्रकार का नेतृत्व सम्हाल सकता है। साधनागत पूर्णता के साथ चरित्रगत-पूर्णता भी आवश्यक थी। सामान्य जनता को आकर्षित कर लेनेवाले आकर्षक चरित्र और पूर्ण व्यक्ति से ही ये कार्य संभव थे। इसका पूरा प्रमाण हमें उपर्युक्त स्रोतों में मिलता है। उनके ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि वे संस्कृत के अच्छे संस्कारसम्पन्न ज्ञाता थे। सिद्धसिद्धान्तपद्धति इसका प्रमाण है। इसी प्रकार मत्स्येन्द्रोद्धार के लिए जब गोरक्ष कदली देश गये थे, तो वहाँ की स्त्रियोंने गोरक्ष के रूपको देखकर उन्हें गोरक्ष से मिलने नहीं दिया। इस कथांश के आधार पर लोगोंने यह अनुमान लगाया है कि गोरखनाथ बहुत सुन्दर थे।[१७] मत्स्येन्द्रोद्धार के ही प्रसंग में लोककथाओं से पता चलता है कि गोरखनाथ बहुत चतुर, समय देखकर कार्य करनेवाले और विभिन्न प्रकार के वेष धारण करने में बहुत निपुण थे। विभिन्न प्रकार की विद्याओं में निष्णात होने के कारण उन्हें इसमें तनिक भी कठिनाई न होती थी। वे मृदंगवादन में निपुण थे। नृत्यकला का भी ज्ञान था। सूक्ष्म रूप धारण करने की सिद्धि भी थी। लोक-

१७. गोरखनाथ और उनका युग—डा० रांगेय राघव, पृ० ४५--४६।

कथाओं में इन सबके प्रमाण मिलते हैं। इसी निपुणता के आधार पर कहीं-कहीं उन्हें विद्याधर भी कहा गया है।[१८]

प्रायः देखा जाता है कि इस प्रकार के नैपुण्य, सौन्दर्य, गुणवत्ता से सम्पन्न होने पर व्यक्ति चरित्र और नैतिकता की दृष्टि से क्षीण हो जाता है अथवा उन्हें सम्हाल नहीं पाता। गोरक्षचरित्र गुण और शक्ति दोनों का मणिकांचन योग है। ब्रह्मचर्यपरायण और हठयोगाचारनिष्ठ नैतिकता से सम्पन्न योगिसम्प्रदाय के विकास का मूल श्रेय गोरक्षनाथ को ही है। ऐसे व्यक्ति की रचनाओं में प्राप्त उपदेशों से यह बात स्पष्ट प्रकट होती है कि गोरक्ष ने इस प्रकार संयमपूर्ण ब्रह्मचर्यपरायण योग का उपदेश देकर यदि उसे जीवन में न उतारा होता तो नाथयोगिसंप्रदाय का यह रूप आज न रहा होता। उनकी कथनी और करनी में अभेद था, यह मानकर ही हम उनकी रचनाओं के आधार पर उनके जीवनचरित्र और गुणों का निष्कर्ष निकाल सकते हैं। चार महासिद्धों की पार्वती द्वारा जो परीक्षा ली गयी, उसमें गोरक्ष को छोड़कर और सभी विचलित होगये। गोरक्ष ने अविचल भाव से ऐसी अप्रतिम सुन्दरी के मातृरूप की ही आकांक्षा की और उसकी गोद में बैठकर स्नेहामृत प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। इस कथांश के आधार पर दो बातें अनुमित की जा सकती हैं। एक तो यह कि गोरक्ष नारी के केवल मातृरूप के पूजक और समर्थक थे और उन्होंने जीवन के लिए ब्रह्मचर्य, संयम, उद्वेगरहित हृदयमार्ग को उचित माना था। यदि उन्होंने इसे आचरित न किया होता तो वे निश्चय ही मत्स्येन्द्र के उद्धार के लिए न जाकर स्वयं उसी में रम गये होते। उनकी रचनाओं में यह स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि वे कंचन और कामिनी दोनों को सहज रहनी और साधनात्मक जीवन के लिए विघातक मानते थे। उद्धार के बाद भी, कामिनी छूटने पर भी, कंचन के प्रति मोह मत्स्येन्द्र के मन में शेष रह गया था। वे एक झोली में स्वर्णमुद्राएं भर लाये थे और छिपा रखा था। गोरक्ष ने सामने के पहाड़ को ही योगबल से स्वर्णमय बना दिया। मत्स्येन्द्र ने झोली नदी में फेंक दी। इससे यह भी स्पष्ट है कि वे यौगिक सिद्धियों का प्रयोग परहितसाधन के

---

१८. वही, पृ० ४७-४८।

लिए ही करते थे। दूसरी कथाएं भी इस बात की पुष्टि करती हैं। गोरखपुर में उन्होंने योगबल से अन्न वितरण किया। उस समय यौगिक सिद्धियों का प्रयोग जनपीड़न के लिए करनेवाले लोग भी थे। गोरखनाथ की उनसे नहीं पटी। दयानाथ अपनी फूँक से पहाड़ी जंगलों में आग लगा देता था। चामत्कारिक रस्सी से बंधवाकर रहस्यमय डंडे से लोगों को पिटवाता था। पहाड़ों को आकाश में उड़ा देता था। अतः गोरक्षनाथ ने गोपीचन्द्र के आवाहन पर उससे कहा : 'लोगों को दुःख न दो, मैं तुम्हें और तुम्हारे अनुवर्तियों तथा परवर्तियों को वरदान देता हूँ कि स्वच्छ श्वेत वस्त्रों और अच्छे घोड़ों की कमी नहीं पड़ेगी।" फिर उन्होंने दयानाथ को अपना शिष्य बनाया। कान फाड़कर कुण्डल पहनाएँ, काले डोरों का साफा सिर पर रखा और दीनोधर वापस भेज दिया।[१९]

उनकी रचनाओं से और उनके सम्प्रदाय के संगठन से यह बात सिद्ध होती है कि वे वर्णाश्रम-व्यवस्था के भेद-विभेदों को नहीं मानते थे। स्वयं उनका सम्प्रदाय अपने को अति वर्णाश्रमी मानता है। यवनों को भी उन्होंने अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया था। मानवमात्र के प्रति समदृष्टि को वे आवश्यक मानते थे। एक कथा के अनुसार उन्होंने ज्वालादेवी के मंदिर में हिंसाविरहित मानसी पूजा का सूत्रपात किया था। उनकी कुछ पंक्तियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वे भांग, मद्य, मांसादि से बहुत दूर रहते थे। एक कथा से स्पष्ट होता है कि गोरक्ष धनको योगी के लिए आवश्यक नहीं मानते थे। गोरक्षने रांझा से कहा था—"मैं पृथ्वी पर सोता हूँ। मेरे पास बिस्तर नहीं, ओढ़ावन नहीं, कंकण पत्थरों पर सोता हूँ और वियावान में रहता हूँ। योगी तो निर्धन होते हैं। धन उनके पास नहीं होता।"[२०] उन्होंने अपने लिए कोई निवासस्थान नहीं बनाया था। वे सदैव भ्रमणशील रहे। चार युगों में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उनके निवास अथवा अवतार की जो बात कही जाती है, वह वस्तुतः उन-उन प्रदेशों की उनकी यात्राओं का विवरण है। रांझा की कथा में गोरख को यह कहते हुए उद्धृत किया गया है कि युवती स्त्रीको 'बहन' और वयस्काको 'माता' का सम्बोधन दो।

---

१९. गोरखनाथ और उनका युग—पृ० ५१–५२।
२०. वही—पृ० ५४ पर उद्धृत ब्रिग्स।

'वयस्का स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में अत्यन्त श्रद्धा थी। वे उनका माता के समान आदर करते थे। गोरखनाथने स्त्री को केवल माता के ही रूप में देखा, जो स्नेह से बालकको पालती है, जिसमें वासना नहीं रहती।' 'युवती स्त्रियोंको गार्हस्थ-धर्म में पतिव्रता के रूप में देखने के इच्छुक थे। उसके कामिनी रूप से उन्हें चिढ़ थी। वे उसकी वासना से घृणा करते थे। लड़कियों का शीलपूर्ण होना उन्हें भाता था। स्त्री के प्रति उनका विचार उनके सिद्धान्तों में बड़ा हाथ रखता है।'[२१] संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए भी मस्त रहना उनकी रहनी की विशेषता थी। ऐसी मस्ती में साधना भी निर्विघ्न भाव से चलती रहे, यही उनकी आकांक्षा थी।[२२]

उनके पाण्डित्य के सम्बन्ध में भी अब प्रायः संदेह नहीं रह गया है। 'अमरौघशासनम्' और 'महार्थमंजरी' यदि उन्हीं की रचनाएँ हैं तो निश्चय ही उन्होंने भारतीय दर्शनों का अच्छा अध्ययन किया था। उनकी हिन्दी रचनाओं से यह बात स्पष्ट होती है कि वे पाण्डित्य को महत्व नहीं देते थे।[२३] गोरक्ष का अपने समकालीन सिद्धों से बहुत संघर्ष था। कहा जाता है कि गोरक्षनाथ और कृष्णपाद या कान्हुपा की साधनापद्धति में भी संघर्ष था। संघर्ष का दूसरा कारण यह था कि गोरक्षनाथ अपने भक्तों, अनुयायियों और विपत्ति में पड़े लोगों की सहायता के लिए हमेशा दौड़ पड़ते थे।

---

२१. वही—पृ० ५६।

२२. 'हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग।।
हसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ करि राषि आपना चीत ।।७।।
हसिबा षेलिबा धरिबा ध्यान। अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान।।
हसै षेलै न करै मन भंग। ते निहचल सदा नाथ के संग ।।८।।
गोरखवानी, सबदी, पृ० ३–४।

२३. 'वेद कतेब न षांणी बांणी। सब ढंकी तलि आंणी।।
गगनि सिषर महि सबद प्रकास्या। तह बूझै अलष बिनाणी ।।५।।
वेदे न सास्त्रे कतेबे न कुरांणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जाना बिरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई ।।६।।
—गो० बा०, पृ० २-३।

कानिफा, जालन्धर, दयानाथ आदि के साथ उनका संघर्ष कथाओं में प्रसिद्ध है। यह भी संभव है, जैसा कुछ कथाओं से मालूम पड़ता है कि भिन्न साधनमार्ग, जो लोगों को सही रास्ते नहीं ले जाते थे, भी इसके कारण रहे हों। तत्कालीन प्रचलित विभिन्न साधन-संप्रदायों का उनके विरूप से उद्धार और नाथमत में उनका संगठन, यह भी उनका एक लक्ष्य था। इसके लिये उन्हें विभिन्न प्रकार के पराक्रम दिखाने पड़े और उनसे सम्बद्ध अनेक कथाएँ, किंवदन्तियाँ तत्तत्प्रदेशों में प्रचलित हो गयीं। अपने संप्रदाय और उसके अनुयायियों की श्रेष्ठता के लिए उन्हें चिंता रहती थी। इसीलिए वे अपने अनुयायियों को चित्त की दृढ़ता का उपदेश देते थे। भारत में इतना भ्रमण करनेवाले और जनसमाज के संपर्क में आनेवाले, दुखियों के दुःख को देखकर तुरत दौड़ पड़नेवाले के लिए भी चित्त की दृढ़ता अत्यधिक आवश्यक थी। उनका कुछ हिंसक यवनों से भी पाला पड़ा था और उन्होंने उन्हें हिंसा से विरत करने के लिए उपदेश भी दिया था। प्रसिद्ध है कि बहुत से मुसलमान भी उनके शिष्य हो गये थे। हिन्दी की रचनाओं के अनुसार विभिन्न सांप्रदायिक संन्यासियों के आडंबर की ओर भी उनकी दृष्टि थी और वे नाथयोगियों को उनसे मुक्त रखने के भी अभिलाषी थे। कार्पटिक, नागा, मौनी, दूधाधारी आदि ऐसे ही संन्यासी थे।[२४]

गोरक्षनाथ का व्यक्तित्व और कृतित्व विभिन्न किंवदन्तियों और लोककथाओं से इतना आवृत है तथा साम्प्रदायिकों द्वारा इस प्रकार की अनैतिहासिक बातें इतनी अधिक मात्रा में प्रसारित की गयी हैं और वे परस्पर इतनी विरुद्ध हैं कि कुछ लोग गोरक्षनाथ को पौराणिक प्रसिद्धिवाला व्यक्ति मानने लगे हैं। अब तक उनकी ऐतिहासिकता और समय के सम्बन्ध में जितना काम हुआ है, ह संक्षेप में नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। इन सबके आधार पर, मोटे तौर पर, इतना तो निश्चय हो गया है कि गोरक्षनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और शंकराचार्य के पश्चात् और रामानुजाचार्य के पूर्व उनका आविर्भाव हुआ था। वस्तुतः गोरक्षनाथ के समय का विचार अन्य नाथसिद्धों अथवा समकालीन सिद्धों के कालविचार से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता।

२४. गोरखबानी—सबदी ३९-४०, पृ० १५, सबदी ७,९-१०, पृ० ३-४।

गोरक्षनाथ की ऐतिहासिकता और उनके काल का निर्णय करने में बहुत सी पौराणिक कथाएँ, किंवदन्तियाँ, साम्प्रदायिक विश्वास आदि बाधक हैं। कुछ विद्वान् इन सबका कालनिर्णयादि में उपयोग भी करते हैं। कनफटा लोगों का कहना है कि उनका सम्प्रदाय सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान था। विष्णु जब कमल से प्रकट हुए तब उस समय गोरक्ष पाताल में थे। सृष्टि की समस्या खड़ी होने पर विष्णु पाताल गये और गोरक्षनाथ से सहायता की याचना की। गोरक्ष ने दयाकर अपनी धूनी से एक मुट्ठी विभूति दी और कहा कि यदि तुम इसे जल के ऊपर छिड़क दोगे तो तुम सृष्टि करने में समर्थ होगे। विष्णु ने वैसा ही किया और ब्रह्मा, विष्णु और शिव गोरक्ष के प्रथम शिष्य हुए।[२५] विभिन्न स्थानों पर विभिन्न युगों में गोरक्ष के अवतरित होने की कथा उनके अतिमानव होने की ओर संकेत करती है।[२६] यह भी कहा जाता है कि गोरक्षनाथ कलियुग में शेषनाग के रूप में प्रकट हुए।[२७] नेपाल से कुछ ऐसे चित्र भी मिले हैं जिनमें गोरक्ष नागों से आवृत हैं। उनके शीर्ष भाग पर शेषनाग की छाया है। एक परम्परा के अनुसार गोरखनाथ का बाबा फरीद से भी सम्पर्क था जिन्होंने १२४४ ई० में गिरनार की यात्रा की थी। उनका एक स्मारक भी गिरनार में है।[२८] गोरखनाथ के शिष्यों की सूची काफी लम्बी है। ब्रिग्स ने हठयोगप्रदीपिका के बहुत से सिद्धों को उनका शिष्य माना है। वह सूची इस प्रकार है—

विरूपाक्ष, विलेश्या, मन्थान, भैरव, सिद्धिबुद्ध, कंथड़ी, करण्टक, सुरानंद, सिद्धिपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कपालि, बिंदुनाथ, कंकचंडेश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ा, चोली, भानुकी, नारदेव, खण्ड, कापालिक, तथा अन्य।[२९]

---

२५. गोरखनाथ ऐंड कनफटा योगीज–ब्रिग्स, पृ० २२८ (ब्रिग्स द्वारा कथित इस कथा में पौराणिक असंगति है)।

२६. वही–पृ० २२९।

२७. वही।

२८. वही–पृ० २३०।

२९. वही–पृ० २३४।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिग्स ने हठयोगप्रदीपिका में दिये गये नामों को ठीक से पढ़ा नहीं है। खण्ड और कापालिक वस्तुतः दो सिद्ध नहीं हैं और वास्तविक नाम है चण्डकापालिक। उसी प्रकार घोड़ाचौली भी एक ही सिद्ध का नाम प्रतीत होता है। ऐसे ही और कितने दोष बताये जा सकते हैं। वस्तुतः गोरक्षनाथ के शिष्यों की संख्या और नाम का संधान अभीतक ठीक से हुआ नहीं है। उड़ीसा के उनके शिष्य मल्लिकानाथ का पता अभी अभी लगा है जिनका जीवनवृत्त मल्लिकामकरंद नाम के ताड़पत्र के हस्तलेख के इतिहास-खण्ड में मिलता है।[३०]

गोरक्षनाथ से सम्बद्ध जो कथाएं मिलती हैं, उनमें से अनेक गूगा चौहान, राजा रसालू, पूरण भगत आदि से संबंधित हैं जिनका उपयोग विद्वानों ने गोरक्षनाथ के कालनिर्णय में किया है। गूगा का समय १२ वीं शताब्दी के पूर्व बताया गया है। राजा रसालू का समय आठवीं शती माना गया है। भर्तृहरि, गोपीचन्द्र, भोज, रानी पिंगला आदि की कथाओं के आधार पर ब्रिग्स ने गोरक्षनाथ का समय ११वीं ई० शती के पूर्व बताया है।[३१] राजपूताने के मेवाड़ के बाप्पा से संबंधित गोरक्ष का समय ८वीं ई० शती से १२वीं ई० शती के बीच रहा होगा।[३२] नेपाली वंशावली पर्वतिया के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ का मिलन नेपाल में नरदेव (८वीं ई० शती का मध्यकाल) के समय में हुआ था।[३३] इस प्रकार की बहुत सी सामग्रियों की परीक्षा कर ब्रिग्स ने यह निश्चय किया कि जब तक और नयी सामग्री उद्घाटित नहीं होती तब तक तो यही निष्कर्ष है कि गोरक्षनाथ का आविर्भाव १२वीं ई० शताब्दी के पूर्व हुआ था। अधिक संभावना तो यह है कि ११वीं ई० शताब्दी के प्रारम्भ में ही

३०. नाथ और सन्त साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन—डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, परिशिष्ट २।

३१. गोरखनाथ ऐंड कानफटा योगीज–ब्रिग्स–पृ० २३५–२३६, २३६, २४२, २४४, २५१।

३२. वही पृ०–२४५–२४७।

३३. वही, पृ० २४८।

उनका आविर्भाव हुआ और वे बंगाल के पूर्वी भाग से आये थे। इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् डा० मोहनसिंह ने संभावना व्यक्त की है कि वे ईसा की ६वीं शताब्दी में विद्यमान थे और पंजाब के निवासी थे।

नेपाल के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास से उपलब्ध तथ्यों, शैव धर्म और नाथयोगी सम्प्रदाय के विकास के इतिहास से उपलब्ध तथ्यों तथा विभिन्न सम्प्रदायों की परम्पराओं के आधार पर प्रो० सिल्वा लेवी, डा० शहीदुल्ला जैसे विद्वानोंने निष्कर्ष निकाला है कि नाथयोगी सम्प्रदाय के संस्थापक सातवीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान थे। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के आधार पर लोग गोरक्षनाथ को छठीं शताब्दी का मानते हैं। एक साम्प्रदायिक परम्परा यह भी मानती है कि जेसस क्राइस्ट ने हिमालय के एक नाथयोगी (गोरखनाथ ?) से योगशिक्षा ग्रहण की थी।[३४]

डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विभिन्न दंतकथाओं और ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे कई महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है। (१) मत्स्येन्द्रनाथ और जालंधरनाथ समसामयिक थे तथा इन दोनों के शिष्य थे क्रमशः गोरक्षनाथ और कानुपा या कृष्णपाद। अतः इनमें से किसी एक का समय निश्चित हो जाने पर शेष का समय निश्चित हो सकता है। (२) कौलज्ञाननिर्णय के लेखक मत्स्येन्द्रनाथ ११वीं शताब्दी के पूर्व हुए थे। (३) अभिनवगुप्त द्वारा संस्तुत 'मच्छन्दविभु' मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। अभिनवगुप्त ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की बृहती वृत्ति सन् १०१५ में लिखी थी और क्रमस्तोत्र की रचना सन् ६६१ में की थी। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ इसके पूर्व आविर्भूत हुए होंगे। (४) मत्स्येन्द्रनाथ (मीनपा) राजा देवपाल के राज्यकाल (सन् ८०६-८४६ ई०) में हुए थे। अतः मत्स्येन्द्रनाथ नवीं शताब्दी के मध्यभाग और अधिकसे अधिक अन्त्य भाग तक वर्तमान थे। (५) गोविंदचन्द्र या गोपीचन्द्र जालंधर के शिष्य कानुपा के शिष्य थे। दक्षिण के राजा राजेन्द्र चोल ने माणिकचन्द्र के पुत्र गोविंदचन्द्र को पराजित किया था।

---

३४. नाथयोग (अंग्रेजी)—प्रो० अक्षयकुमार बनर्जी, पृ० ५।

'गोविंदचन्द्रे र गान' के अनुसार गोविंदचन्द्र का किसी दाक्षिणात्य राजा से युद्ध १०६३-१११२ ई० में हुआ था। इस पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जालंधर का समय इससे सौ वर्ष पूर्व (लगभग ९६३ई०) रहा होगा। मत्स्येन्द्रनाथ का समय इससे भी पूर्व होना चाहिए। (६) वज्रयानी सिद्ध कण्हपा, जिन्होंने अपने गानों में जालंधरनाथ का नाम लिया है, तिब्बती परंपरा के अनुसार राजा देवपाल (८०६-८४९ ई०) के समकालीन थे। अतः जालंधरपाद का समय इससे कुछ पूर्व ठहरता है। (७) चालुक्यराज मूलराज (९९३ ई०) ने अणहिल्लपुर के शिवमंदिर का प्रबंधक कन्थड़ी नामक सिद्ध को बड़े छल-बल-कौशल से बनाया था। इस सिद्ध के सारे लक्षण नाथपंथी योगी के हैं, ऐसा प्रबंधचिंतामणि से पता चलता है। ऊपर के प्रमाणों के आधार पर नाथमार्ग के आद्य प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्यभाग ही उचित जान पड़ता है।[२५]

ऊपर के विवरण और विवेचन से यह निश्चत हो गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ का समय ९ वीं ई० शती के मध्य अथवा अन्त्य भाग में होना चाहिए। अभी तक जितने भी प्रमाणों का विचार लोगों ने किया है, उनमें उपर्युक्त विचार अपेक्षाकृत अधिक संगत और प्रामाणिक मालूम पड़ता है। डा० कल्याणी मल्लिक ने शताब्दी के अनुसार सामग्री का विभाजन कर यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि गोरक्षनाथ का समय १२ वीं ई० श० के पूर्व किसी समय माना जा सकता है। उन्होंने कुछ प्रमाण ऐसे भी दिये हैं, जिनसे डा० द्विवेदी के मत की पुष्टि होती है। मालवराजकन्या मयनामती के पति माणिकचन्द्र के गीत रंगपुर के पाशुपत शैव गाते थे। वे लोग गोरक्षनाथ की गुरुरूप में पूजा करते थे। पैग-साम-जान-ज्वैन के अनुसार शंकरदिग्विजय के परवर्ती काल में मगध के, श्रीहर्ष के ज्येष्ठ पुत्र के राजत्वकाल में, बंगदेश में माणिकचन्द्र के पिता राज्य करते थे। शंकर का जन्मकाल ७८८ ई० है। गोरक्षनाथ ने नाथ संप्रदाय के दर्शन के साथ उपनिषद्दर्शन का सामंजस्य किया है। अतएव वे शंकर के बहुत परवर्ती नहीं हो

२५. नाथसिद्धों की बानियाँ—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, भूमिका, पृ०-५-६।

सकते। उनका दूसरा प्रमाण यह है कि आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में हिन्दू-मुसलमानों में जो संघर्ष हुआ, उसमें गोरक्ष के शिष्य राजा रसालू ने विशिष्ट स्थान ग्रहण किया। रसालू और पूरन भगत दोनों ही गोरक्ष के शिष्य थे।[३६] अन्यत्र डा० कल्याणी मल्लिक ने यह स्वीकार किया है कि गोरक्षनाथ का समय दसवीं शताब्दी के बाद निश्चय होना चाहिए।[३७]

इस प्रकार गोरक्षनाथ के समय के सम्बन्ध में स्पष्टतः दो मत हैं। एक मत गोरक्षनाथ का जीवनकाल स्पष्टतः ईसा की नवीं शताब्दी का मध्यभाग मानता है और दूसरा मत उन्हें १० वीं से १२ वीं शताब्दी के मध्य किसी भी समय विद्यमान मानता है। दोनों मतों में पर्याप्त अन्तर है। डा० मल्लिक के कुछ प्रमाणों का उपयोग प्रथम मत की पुष्टि के लिए भी किया जा सकता है। सब देखने पर प्रथम मत (९ वीं ई० शताब्दी का मध्यभाग) ही अधिक मान्य प्रतीत होता है।

यद्यपि गोरक्षनाथ का समय अब प्रायः निश्चित हो गया है, लेकिन उनके नाम से मिलनेवाली सभी रचनाओं का कालनिर्णय अभी तक नहीं हो सका है। गोरक्षनाथ के नाम से संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तीनों भाषाओं में रचनाएँ मिलती हैं।

ब्रिग्स ने गोरक्षनाथ के गोरक्षशतक को उनकी सबसे प्रामाणिक रचना माना है। इसी गोरक्षशतक के बहुत से नाम मिलते हैं और इसी का संस्करण तथा परिवर्द्धन भी बहुत हुआ है। प्रथम शतक के गोरक्षकल्प, गोरक्षपद्धति, गोरक्षज्ञान, ज्ञानशतक, ज्ञानप्रकाशशतक आदि ऐसे ही नाम हैं। गोरक्षपद्धति की हिन्दी टीका में बहुत से ऐसे श्लोक भी मिलते हैं जो उसी रूप में हठयोगप्रदीपिका में भी मिलते हैं। गोरक्षशतक में दो शतक हैं। संपूर्ण ग्रंथ के गोरक्षशतक टीका, गोरक्षशतक टिप्पण, गोरक्षकल्प,

---

३६. नाथसंप्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधनाप्रणाली—डा० कल्याणी मल्लिक, पृ० ३४-३९।

३७. सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐंड अदर वर्क्स आव नाथयोगीज—डा० कल्याणी मल्लिक, इंट्रोडक्शन, पृ० १०।

गोरक्षपद्धति, योगसिद्धान्तपद्धति और सिद्धान्तपद्धति नामक अनेक नामान्तर और रूपान्तर हैं। गोरक्षपद्धति में इसे गोरक्षसंहिता भी कहा गया है। अतः ब्रिग्स ने अनुमान लगाया है कि गोरक्षशतक इस संप्रदाय का मूलग्रन्थ है। इसे प्रमाण और परम्पराएं गोरक्ष-नाथकृत मानती हैं तथा इसे १२ वीं शताब्दी की रचना स्वीकार करती हैं। लेकिन गोरक्षसंहिता, जो आजकल अनुपलब्ध है और गोरक्षपद्धति का तुलानात्मक अध्ययन करने से यह बात साफ हो जाती है कि गोरक्षसंहिता अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। गोरक्ष-पद्धति गोरक्षसंहिता के बहुत बाद का ग्रन्थ मालूम होता है। ऐसा मालूम होता है कि गोरक्षपद्धति का संग्राहक गोरक्षसंहिता और हठयोगप्रदीपिका दोनों को अपना आधार मानता है। गोरक्षपद्धति में गोरक्षसंहिता का उल्लेख कई बार हुआ है। अतः गोरक्षपद्धति एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

गोरक्षशतक के समान ही सिद्धसिद्धान्तपद्धति भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के आधार पर आगे चलकर सिद्धसिद्धान्तसंग्रह और गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह जैसे ग्रन्थ बने बताये जाते हैं। इन ग्रन्थों में सिद्धसिद्धान्तपद्धति के उद्धरण भी मिलते हैं। अमरौघशासनम् और महार्थमंजरी ग्रन्थ भी गोरक्षकृत ही माने जाते हैं और विभिन्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। शैवागमों से शैवनाथ मत का सम्बन्ध-निरूपण करने के लिए "अमरौघशासनम्" महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रन्थ की रचनातिथि तथा लिपिकाल अज्ञात हैं। सांख्ययोग, काश्मीर शैवमत और तंत्रदर्शन के ३६ तत्वों के साथ सम्बन्ध-विचार के लिए महार्थमंजरी विचारणीय ग्रन्थ है। भाषा की दृष्टि से भी इसका महत्व कम नहीं है। कुछ लोग इसकी भाषा काश्मीरी अपभ्रंश मानते हैं। इन आधारों पर दार्शनिक, साधनात्मक तथा सांप्रदायिक धारा के विवेचन की दृष्टि से गोरक्षनाथ की ये चार रचनाएँ बहुत महत्वपूर्ण और प्रामाणिक मानी जा सकती हैं—(१) सिद्धसिद्धान्त-पद्धति, (२) महार्थमंजरी, (३) गोरक्षसंहिता, (४) अमरौघ-शासनम्। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूचित किया है कि अमनस्क नामक ग्रन्थ की एक प्रति बड़ौदा लाइब्रेरी में है और गोरक्षसिद्धांत-

संग्रह में बहुत से वचन उद्धृत हैं।[३८] लेकिन इसकी प्रति भी ढूंढ़े नहीं मिलती। अमनस्क ग्रन्थ तो अब प्रकाशित ही हो रहा है। द्विवेदी जी ने बताया है कि पं० प्रसन्नकुमार कविरत्न ने गोरक्ष-संहिता को १८६७ में छपाया था! हमने एक दूसरा संस्करण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गायकवाड़ ग्रन्थालय में देखा, जिसकी टंकित प्रति मेरे पास सुरक्षित है। यह संस्करण श्री इन्द्र जी शर्मा द्वारा संवत् १६५० में प्रकाशित कराया गया था। इसका प्रकाशन स्थान काठियावाड़ का प्रभासपाटण स्थान है और मुद्रण स्थान अहमदाबाद है। यह संस्करण भी बहुत जीर्ण अवस्था में मुझे मिला। द्विवेदी जी ने आगे और बताया है कि इसकी एक प्रति नेपाल दरबार लाइब्रेरी में भी है जिसका कुछ अंश डा० बागची ने कौलवलि-निर्णय की भूमिका में उद्धृत किया है। इसके बहुत से अंश मत्स्येन्द्र-नाथ के अकुलवीरतन्त्र में भी अविकल रूप में मिलते हैं।[३९] गोरक्ष संहिता भी बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ है और अब अप्राप्य है। अतः अमनस्क के बाद, उपर्युक्त सामग्री के आधार पर, इसका भी संपादन-प्रकाशन होना चाहिए।

गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाएं भी अब पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित हो चुकी हैं। सबसे पहले डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने हस्त-लिखित पोथियों के आधार पर 'गोरखबानी' का प्रकाशन कराया जिसमें प्रमुख तेरह रचनाओं में सबदी अंश को सबसे अधिक प्रामाणिक माना गया है। इनके अतिरिक्त १४ रचनाएं और संपादित हैं। डा० बड़थ्वाल द्वारा संग्रहीत नाथसिद्धों की बानियों का दूसरा भाग बहुत बाद में पर्याप्त नयी सामग्री के साथ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रकाशित कराया। इसके पूर्व ही डा० कल्याणी मलिक ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति और अन्य नाथयोगियों की रचनाओं के साथ गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध 'गोरख उपनिषद्' नाम की रचना प्रकाशित की। कुछ लोग गोरक्षनाथ को हिन्दी का प्रथम गद्यलेखक मानते हैं। भाषा की दृष्टि से भी गोरक्षनाथ की रचनाएं बहुत

---

३८. नाथ संप्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९८।

३९. वही पृ० ९९–१००

महत्वपूर्ण मानी जाती हैं, यद्यपि उनकी भाषा बहुत बदल गयी है।[४०]

गोरक्षनाथ के दर्शन के मूल आधार ग्रंथ संस्कृत में हैं। ऊपर जिन संस्कृत रचनाओं की ओर संकेत किया गया है, उनमें गोरक्ष-दर्शन का तत्वविज्ञान बहुत ही पुष्ट रूप में प्रकाशित हुआ है। अन्य बहुत से भारतीय दर्शनों की तरह ही गोरक्ष-दर्शन के तत्व-विज्ञान का मूलाधार सांख्य का तत्वविज्ञान है। सिद्धसिद्धान्त-पद्धति में काश्मीर शैव दर्शन के ३६ तत्वों का पूरा समाहार प्रतीत होता है। वस्तुतः इस तत्वविज्ञान का मुख्य लक्ष्य नाथों का 'पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद' है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समतत्वता और सम-पदार्थता सिद्ध करने के लिए दार्शनिक आधार के रूप में इस तत्व-विज्ञान का विकास किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० कल्याणी मल्लिक आदि ने इस तत्व-विज्ञान का विस्तार से विवेचन किया है।

प्रलयावस्था में शिव कार्य-कारण के चक्र-संचालन से विरत, कुल अकुल-भेद से परे और अव्यक्त रहते हैं। इस अवस्था को सिद्धसिद्धांतपद्धति में 'स्वयं' कहा गया है।[४१] इस परम शिव में सिसृक्षा उत्पन्न होने पर उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। यह सिसृक्षा ही शक्ति है जिसके उत्पन्न होते ही शिव और शक्ति दो तत्व हो जाते हैं जो इस स्थिति में अभिन्न रहते हैं। इसके बाद इन दोनों तत्वों का पांच अवस्थाओं में विकास होता है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

शिव		शक्ति
१—अपर	:	१—निजा (स्फुरित होने की पूर्ववर्तिनी, स्फुरित होने को उपक्रान्त)

---

४०. विस्तार के लिए देखिए, (१) नाथ संप्रदाय पृ० ९८-१०२, (२) नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली, पृ० १२१–१५०, (३) नाथ सिद्धों की बानियां डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, (४) सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐंड अदर वर्क्स–डा० कल्याणी मल्लिक, (५) नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन–डा० ना० उपाध्याय, पृ० २७–३४।

४१. कार्यकरणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्। अव्यक्तं परमं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत्॥' । १–४ । सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, रचयिता : बलभद्र, पृ० १ ।

२—परम : २—परा (स्फुरणोन्मुख)

३—शून्य : ३—अपरा (स्पंदित होती है)

४—निरंजन : ४—सूक्ष्मा अहंता। 'मैं'-पन का पृथक्ता का भाव।

५—परमात्म[४२]—इस अवस्था में शिव विश्वप्रपंच की उत्पत्ति, पालन और संहार में समर्थ होते हैं। : ५—कुण्डली।[४३]—(अपनी पृथक्ता में में पूर्ण सचेत, इसी शक्ति की सहायता से शिव इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति, पालन और संहार में समर्थ होते हैं)।

यह कुण्डली वेदान्तिक ब्रह्म की शक्ति 'माया' से भिन्न है। यह चिच्छक्ति चिच्छीला, चिद्रूपिणी, अनन्तरूपा और अनन्त शक्तिरूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत्-रूप में परिणत होती है। इसे वेदनशीला भी कहा गया है और इसके अन्य शक्तियों के समान ही पांच गुणपूर्णता, प्रतिविम्बता, प्रवलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्मुखता वताये गये हैं।[४४] इसके बाद यह शक्ति सृष्टि-क्रम को अग्रसर करने के लिए क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। शिव और शक्ति के बाद तीन परवर्ती क्रमविकास हैं—३ सदाशिव, अहंप्रधान, ४. ईश्वर इदंप्रधान, ५. शुद्धविद्या-उभयप्रधान।[४५] शिव क्रमशः उपर्युक्त पांच अवस्थाओं (आनन्दों) से होते हुए 'जीव' रूप की ओर अग्रसर होते हैं। वे क्रमशः स्थूल से स्थूलतर

४२-४३. ततोऽस्मिता पूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं परम्। तत्स्वसंवेदनाभास शुत्पन्नं परमं पदम्। स्वेच्छोमात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्। तस्मात्ततः स्वसाक्षाद्भूः परमात्मपदं मतम्।' सि० सि० सं०, पृ० २, उप० १, श्लो० १४-१५।

४४ नाथ संप्रदाय—पृ० १०४, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह—'चिच्छीला कुण्डलिभ्यतः'—१.६, सिद्धिसिद्धान्तपद्धति—'ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्रता।—१-७, पूर्णता, प्रतिविम्बता, प्रवलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्मुखता इति पंचगुणा कुण्डलिनी शक्तिः॥'—१-१२॥

४५. नाथ संप्रदाय—पृ० १०५ तथा पादटिप्पणी।

होते जाते हैं। इसी प्रकार गोरक्ष के तत्वविज्ञान के अनुसार तत्व-विकास (सृष्टिप्रक्रिया) में क्रमशः निम्नलिखित ३६ तत्व उत्पन्न होते हैं—उपर्युक्त ५ और ६—माया, ७-११ पंचकंचुक, १२. पुरुष, १३. प्रकृति, १४. महत्, १५. अहंकार, १६-२० पंचतन्मात्र, २१-३१ एकादश इन्द्रिय, ३२-३६ पंचभूत।[४६]

वस्तुतः यह सारा विकास सिद्धसिद्धान्तपद्धति में 'पिण्डोत्पत्ति' के प्रकरण में वर्णित है। अतः इस सारे विकास को पिण्डोत्पत्ति के अनुसार विभाजित किया गया है। १. परपिण्ड (तत्त्व १-२), २. आद्यपिण्ड (तत्त्व ३-५), ३. साकार पिण्ड (तत्त्व ६-१३), ४. प्राकृत पिण्ड (तत्त्व १४-२०), ५. अवलोकन पिण्ड (तत्त्व २१-३१), ६. गर्भ पिण्ड (तत्त्व ३२-३६)। गर्भपिण्ड स्थूलतम पिण्ड है और सृष्टिप्रक्रिया में अंतिम स्थूलतम विकास है।[४७]

स्पष्ट है कि ऊपर की प्रक्रिया ब्रह्माण्ड और पिण्ड की समतुल्य विकास प्रक्रिया है। भेद केवल सत्व, रज, तम, काल और प्राणशक्ति की न्यूनता और अधिकता के कारण है। यहां तक कि प्रत्येक परमाणु तक में उन सभी तत्वों की सत्ता स्वीकृत है। पिण्ड मानो ब्रह्माड का संक्षिप्त संस्करण है।[४८] इस प्रकार परशिव (स्वयं) की अवस्था ही परम अवस्था है।

नाथमार्ग को कुछ विद्वान् अद्वैतवादी मानते हैं। लेकिन शांकर अद्वैतवाद से स्पष्ट भेद है। काश्मीर शैवाद्वैत दर्शन से इसका स्पष्ट नैकट्य है। सामरस्य, शक्तिकल्पना, परमशिव, सगुण शिव, जगत् का अमिथ्यात्व, परम शिव की इच्छाशक्ति और उसका विकास, पिण्डब्रह्माण्डवाद आदि विचार और सिद्धान्त ऐसे ही हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि नाथ सिद्धाचार्य अपना भेद स्थिर करने के लिए सिद्धान्त की दृष्टि से अपने को द्वैताद्वैतविलक्षणवादी

---

४६. वही—पृ० १०६।

४७ वही—पृ० १०७-१०६।

४८. वही—पृ० ११०, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह—पृ० १८ 'ब्रह्माण्डवर्ति यत्किंचित्-पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।"

कहते हैं, क्योंकि नाथतत्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है। वह निरुपाधि है और संख्या उपाधि है। वह अवाच्य पद है। जगत का प्रपंच शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है। इसलिए शक्ति ही जगत्कर्त्री है, शिव नहीं। इस संप्रदाय में ब्रह्म या शिव की शक्ति को चित्स्वभावा माना गया है और वेदान्तियों में जड़स्वभावा। इसीलिए नाथदर्शन में जगत् चिच्छक्ति का विकास है। धर्मी शिव और धर्म शक्ति को केवल व्यवहारानुरोध से भिन्न मान लिया गया है। चित् ब्रह्म की शक्ति भी चिद्रूपा ही होनी चाहिए। शिव का स्वरूपनिर्धारण अशक्य होने से अभिन्न-भिन्नरूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। नाथयोगी साधक का लक्ष्य है, शिव और शक्ति का सामरस्यरूप सहज समाधि' इस प्रकार की शक्ति की उपासना अन्ततः शिवोपासना ही है। व्यवहारानुरोध से ही शक्ति की उपासना कही जाती है।

डा० कल्याणी मल्लिक ने बताया है कि गोरक्ष का दर्शन प्राचीनकाल के शैवमत के अद्वैतवाद पर आधृत है। किन्तु उनका नाथ तत्व द्वैत-अद्वैत, साकार-निराकार से अतीत है। शिव शुद्ध चिद्रूप हैं और शक्ति उसका परिवर्तन और विकास का पक्ष है। नाथ लोग जगत्प्रपंच के अद्वितीय परम कारण को शिव या आदिनाथ के नाम से अभिहित करते हैं। वे स्वरूपतः अनादि, अनन्त, स्वयंसिद्ध, स्वप्रकाश, नित्य तत्त्व, देशकालातीत, सर्व-अवच्छेदहीन और सकल भेद-बाधाशून्य है। वह सर्वथा निरपेक्ष सत्ता है। वे स्वयं निष्कारण और समस्त चराचर के एकमात्र कारण हैं। यह कारणता ही उनकी शक्ति है। इस शक्ति के साथ वे नित्य-युक्त रहते हैं। शिवशक्तिसम्बन्ध के विषय में नाथगण कहते हैं—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥[४९]

---

४९. सिद्धसिद्धातपद्धति ऐंड अदर वर्क्स—भूमिका, पृ० १६, नाथ संप्रदायेर इतिहास०—पृ० २२८; सिद्धसिद्धान्तसंग्रह—पृ० २६-२७, ४.३७; सिद्धसिद्धांतपद्धति—४.२६।

एकही अद्वितीय परमतत्व दृष्टिभेद से शिव या शक्ति आख्या को प्राप्त करता है। शिव शक्तिरूप होकर सर्वाकारों में स्फुरित होते हैं। दोनों ही अन्योन्याश्रयभूत हैं। धर्म के विना धर्मी अकल्पनीय है। इस प्रकार दोनों तत्वतः अभिन्न हैं--

प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः।

तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगयोगराट्॥[५०]

इस प्रसार और संकोच का जो आदि और अन्त है, वही साम्यावस्था है और वही निराभास है, वही शिवावस्था है। जब यह साम्य भंग होता है, अर्थात् शक्ति के स्फुरण या प्रसर में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है, तब शक्ति परिणाम लाभ करती है या जगत् आभासित होता है। शक्ति की संकोचन क्रिया के अवसान-काल तक जगत् क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म-भेद से आभासित होता है। अतएव जगत् का आभास ही शक्तिभाव और निराभास ही शिव-भाव है। शिव एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति का तिरोभाव ही जगत् का लय है। फिर भी शिव और शक्ति सूर्य और सूर्यकिरण के समान अभिन्न हैं। अतएव शक्ति की साधना से शिवकी उपलब्धि होती है। शक्तिउपासना साधन है और शिवत्वलाभ उसका फल। विमर्श ही शिवकी शक्ति है। इस प्रकार नाथसिद्ध सगुण-सक्रिय, अर्थात् विचित्र ब्रह्माण्डरूपी शिव और निर्गुण,निष्क्रिय शिव नामक ये दो तत्व स्वीकार करते हैं। सगुण-निर्गुण, सक्रिय-निष्क्रिय की मिलनभूमि को ही वे नाथस्वरूप कहते है।[५१]

परब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में नाथसिद्धान्त यह है कि ईश्वर में क्रिया और अक्रिया, दोनों प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं। पूर्णब्रह्म सक्रिय अथवा निष्क्रिय नहीं है। नाथ और निर्गुण ब्रह्म में भेद है। नाथस्वरूप निर्गुण-सगुण दोनों से अतीत है। नाथ लोग सभी देवताओं से शिवको उत्तम मानते हैं और शिव से भी उत्तम नाथ को। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह का कथन है कि गोरक्ष के अनुसार

५०. नाथ सम्प्रदायेर इतिहास०-पृ० २२८-२२९, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह--पृ० ३६-३७, ६.९।

५१. नाथ सम्प्रदायेर इतिहास० --पृ० २३०-२३१।

विश्वकर्तृत्व नाथ का नहीं है, शिव का है। शिव ही विश्वकर्ता हैं और नाथ निगुर्ण निरुपाधिरूप हैं। अतः उनके लिए प्राकृतिक कार्य-कारण का कोई माहात्म्य नहीं है। विश्व के सृष्टिकर्ता सगुण सोपाधि शिव हैं।[५२] सिद्धमत में परमतत्व को द्वैताद्वैतविवर्जित कहा गया है। यही सिद्धमत का वैशिष्ट्य है। यह विवर्जितत्व ही पूर्ण सत्य है। निगुर्ण ब्रह्म और सिद्धों के नाथ में भेद-प्रभेद यह है कि नाथ अद्वैतोपरि और निराकार-साकारातीत हैं। इसी नाथ से निराकार ज्योतिर्नाथ और साकार नाथ का जन्म होता है। साकार नाथ से सदाशिव. भैरव और उनकी शक्ति भैरवी का जन्म हता है। नाथ सर्वविलक्षण अर्थात् 'यादृश एव तादृश एव' हैं। उनकी कोई तुलना नहीं। वे ही महासिद्धों के लक्ष्य हैं।[५३]

नाथदर्शन के अनुसार जीवन्मुक्ति की ही अवस्था आदर्श अवस्था है। देहपात में जो मुक्ति होती है, उसे यथार्थ मुक्ति नहीं कहा गया है। कारण यह है कि यह मुक्ति देहपातरूप प्रतिबन्धक द्वारा बाधित है। नाथ गण कहते हैं कि जिस देह से परमपदप्राप्ति होती है, उसी देह की रक्षा, अजर-अमर करना कर्तव्य है। विदेह-मुक्ति में इस देह का ही त्याग हो जाता है। 'योगबीज' में कहा गया है--

"अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि।"

जीवन्मुक्तियोग में दैहिक परिवर्तन साधित होता है। इस सिद्ध-देह का लाभ होने पर योगी के लिए इच्छामृत्युवरण संभव हो जाता है। वेदान्त का आत्मसाक्षात्कार नाथमार्ग की परमपद प्राप्ति है, किन्तु साथ ही नाथ लोग उस देह को ही स्थायी करने के लिए सचेष्ट हैं। योग से सिद्धयोगी प्रारब्ध का क्षय करता है। तत्पश्चात् देह को रखे या न रखे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। सिद्धमत में देह ही आत्मा है। विक्षेप के दूर न होने पर शुद्ध देहलाभ नहीं होता। शक्तियुक्त चैतन्य को सिद्ध लोग स्वीकार करते हैं। उसको जीतकर विशेष रूप से अज्ञान को दूर कर मुक्तिलाभ होता है। योगी चैतन्यशक्ति का जय करके कालजयी होता है। योगी का शरीर ही योगदेह है। सिद्धमत है कि जो मृत्यु को प्राप्त करता है, वह मुक्त

---

५२. वही-पृ० २५४-२५६।

नहीं है। परामुक्त का देहपात नहीं होता।[५४] नाथमत में मोक्ष वह अवस्था मानी गयी है जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[५५] नाथयोगी का लक्ष्य होता है ऐसे शरीर की प्राप्ति जिसका पतन न हो, जिसके बाहर प्राण न जाता हो। इनका लक्ष्य वह अवस्था है जिसमें शरीर भी ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। शरीर चिन्मय हो जाता है और फिर अनन्यता की प्राप्ति होती है। यह पिंडसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। इस प्रकार संक्षेप में नाथों का लक्ष्य है जीवन्मुक्तियुक्त सिद्ध देह से नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण।[५६] महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज ने नाथों के जीवन्मुक्तिक्रम का इस प्रकार व्याख्यान किया है—"इस मत के अनुसार सद्गुरु की कृपा से चित्तविश्रांतिलाभ सबसे पहले होना चाहिए, क्योंकि बिना उसके सामरस्यप्राप्ति नहीं हो सकती। जबतक चित्त देहात्मबोध मूलक क्षोभ से मुक्त न हो, तब तक इसमें शांति नहीं होती और यथार्थ साधना का प्रारंभ नहीं होता। चित्त-विश्रांति से स्वभावतः भगवदानंद और अनंत ज्योतियों का आविर्भाव होता है। इस अद्वय प्रकाश से द्वैत भाव निवृत्त हो जाता है। इसके बाद चित् शक्ति का प्रकाश होता है और योगी निज देह के पूर्णज्ञान को प्राप्त करता है। इसका फल है देह सिद्धि या पिण्डसिद्धि। इसका नामान्तर है देह का अमरत्व। इसे नामान्तर से सिद्ध अवस्था कह सकते हैं। परन्तु अभी भी जो यथार्थ अंतिम लक्ष्य है, वह दूर है। इस समय योगी की देह ज्योतिर्मय आकार को लेकर प्रकाशमान होती है। यह चैतन्य की सारभूत सत्ता है। परमपद के नित्य सिद्ध प्रकाश के साथ इस प्रकाशमय आकार का एकत्वसंपादन... सुदीर्घकाल तक आत्मा के स्वरूपानुसंधान में तल्लीन रहने से हो सकता है। यही

---

५३. नाथ संप्रदायेर इतिहास०–पृ० २६९,२७१।

५४. वही—पृ०२६२, २६३,२६६-२६७, ३०१, ३०३।

५५. अमरौघशासनम्—पृ० ९।

५६. नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन–डा० ना० उपाध्याय, पृ० २७३।

सामरस्य है।···सामरस्य और निरुत्थान दशा, दोनों के अंतराल में कुछ अवस्थाओं का पता चलता है। पूर्ण स्वातन्त्र्य से समन्वित आत्मा का स्फुरण निरुत्थान दशा के नाम से प्रसिद्ध है।···नाथयोगियों का लक्ष्य यह है कि पहले पिंडसिद्धि के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो। इस समय में कालवंचन सिद्ध होता है। अर्थात् काल के प्रभाव से योगी मुक्त हो जाता है। इसके अनन्तर समरसीकरण के द्वारा परा मुक्ति की सिद्धि होती है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पिंडसिद्धि या जीवन्मुक्ति के अनन्तर ओंकार साधना के द्वारा परामुक्ति का आविर्भाव होता है।[५७]

ऊपर बतायेगये नाथों के लक्ष्य से यह बात स्पष्ट हो गयी कि नाथों के दो लक्ष्य हैं—प्रथम गौण और द्वितीय मुख्य। गौण लक्ष्य है पिण्डसिद्धियुक्त जीवन्मुक्ति और मुख्य लक्ष्य है पिण्डपद का परमपद में समरसीकरण। यदि पहले की दार्शनिक तत्वज्ञानात्मक विचारणा को ध्यान में रखा जाय तो यह दूसरा लक्ष्य पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नाथसंप्रदाय में विशेषकर गोरक्षनाथ के ग्रंथों में साधनाक्रम का पूर्ण प्रकाशित रूप मिलता है।

गोरक्ष के साधनमार्ग में 'गुरु' को बहुत महत्व दिया गया है। परमपद में समरसीकरण, जो नाथों का चरम लक्ष्य है, गुरु की कृपा से ही होता है। गुरुचरणों में रत रहने से स्वसंवेद्य परमपद की सिद्धि सम्भव बतलायी गयी है। केवल इसी साधन से योगियों को पिण्ड के निरुत्थान का अनुभव होता है तथा उसके पश्चात् समरसीकरण की सिद्धि होती है।[५८] सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा गया है कि सिद्धपुरुष अदैहिक साधनों का आश्रयण कर परमपद को प्राप्त करते हैं और इन साधनों में स्थिति गुरु के दृक्पात से होती है। इसलिए गुरु से बड़ा कोई नहीं है। वह अपनी करुणा के खड्गपात से पशु (साधक) के आठों प्रकार के पाशों का छेदन

५७. वही—प्राक्कथन—म० म० डा० गोपीनाथ कविराज, पृ० ५-६।

५८. नाथ और सन्त-साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन—डा० ना० उपाध्याय, पृ० २६७; सि० सि० प० अ० ना० यो० : सम्पादक—डा० कल्याणी मल्लिक, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ५.११-१२।

करता है। उसकी इस प्रकार की क्रिया से साधक सम्यक् आनन्द में मग्न हो जाता है। उसकी यह कृपा विश्रांतिकारक होती है। विना स्वात्मगत विश्रांति के पिंडपद का परमपद में समरसीकरण नहीं हो सकता। शास्त्र, अनुमान, तर्क आदि से भ्रांत करनेवाला गुरु गुरु नहीं। उपर्युक्त गुण-धर्मों से समलंकृत गुरु को प्राप्त कर शिष्य जन्म और संसार-बंधन से मुक्त हो जाता तथा परानन्दमय होकर निष्कल शिवत्व की उपलब्धि करता है।[५९] प्रकृति के सभी विकारों का अवधूनन करनेवाला सिद्ध ही, अवधूत योगी ही सद्गुरु का पद प्राप्त कर सकता है। सिद्धिसिद्धांतपद्धति में सिद्ध योगी अवधूत को अत्याश्रमी, योगी, सिद्धयोगी, जितेन्द्रिय आदि कहा गया है।[६०] गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में षोडशनित्यातन्त्र का उद्धरण देकर गुरु रूप में शिव को नमस्कार किया गया है। गुरु की ही कृपा से स्वल्प कल्प मात्र से सहज सिद्धि प्राप्त होती है। इस गुरु को ३६ लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए। अधिक तत्वों से गुरु कहा जाता है। गुरु से शिष्य के ४ लक्षण कम होते हैं अर्थात् उसमें ३२ लक्षण आवश्यक माने गये हैं। इनसे कम लक्षणों से युक्त सिद्ध व्यक्ति को गुरु रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए। ३२ से कम लक्षणों से युक्त व्यक्ति को शिष्य भी नहीं बनाना चाहिए। इन ३२ लक्षणों के लिए आठ परीक्षाएँ स्वीकार की गयी हैं। गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह में वर्णित ये लक्षण अवधूत-सम्प्रदाय के अनुसार बताये गये हैं।[६१] संक्षेप में हम इसे 'गोरक्षनाथ का गुरु-शिष्यवाद और अधिकार-भेदवाद' कह सकते हैं।

नाथ मार्ग का परमपद 'नाथ' है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार ने 'नाथस्वरूपेणावस्थानम्' को ही लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। नाथ के सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है कि प्रसार और संकोच का जो आदि अन्त है, वही साम्यावस्था है, वही निराभास है, वही शिवावस्था है। यह समरसावस्था ही अद्वयावस्था है और यही समाधि

५९. सि० सि० अ० व० ना० यो० में सिद्धिसिद्धान्तपद्धति, ५.५४-८१।

६०. वही, सिद्धसिद्धान्तपद्धति : सम्पूर्ण षष्ठ उपदेश।

६१. गो० सि० सं०, पृ० ३१-३२, ४५, ४६, १४, ४०, ५६-५७। नाथ और सन्त साहित्य : पृ० २६८-७०।

की स्थिति है। इस प्रकार समरस और अद्वय रूप से अवस्थान ही नाथस्वरूप से अवस्थान है।[६२] इस समरसीकरण के लिए, गुरुकृपा से पिण्डसंवित्ति के लिए शुद्ध या दिव्यदेह की आवश्यकता है। बिना गुरु-कृपा और शुद्ध देह के इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी-लिए गोरक्ष के साधनमार्ग में यह कायसिद्धि आवश्यक मानी गयी है, जिसका लक्ष्य समरसीकरण है।[६३] नाथमतानुसार मोक्ष वह अवस्था है, जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को आगे जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[६४] इसी प्रकार इस जीवन्मुक्ति के लिए कायसिद्धि और कायसिद्धि के लिए पिण्डज्ञान आवश्यक है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार योगी को पिण्डगत नवचक्र, षोडशाधार, तीन लक्ष्य, पंचव्योम अवश्य जानना चाहिए। अन्यत्र गोरक्ष ने कहा है कि जो योगी पिण्डगत एक स्तम्भ, नव द्वार, पंचदेवता आदि को नहीं जानता, वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। तत्वविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्माण्ड का जो समतुल्य और विकासात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है, उसका यही प्रयोजन है।

उपर्युक्त समरसीकरण के लिए 'योगबीज' योगरहित ज्ञान और ज्ञानरहित योग की निरर्थकता बतलाते हुए योगयुक्त ज्ञान को ही मोक्षोपाय के रूप में स्वीकार करता है।[६५] उपर्युक्त विवेचन से मिलान करने पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पिण्डसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। अर्थात् नाथों का लक्ष्य जीवन्मुक्तियुक्त सिद्धदेह से नाथरूप से अवस्थान या पिण्डपद का परमपद में समरसीकरण है।[६६]

---

६२. सि० सि० ग्र० व० ना० यो०—इंट्रो०, पृ० २१।

६३. नाथ और सन्त साहित्य—पृ० २७०-२७१।

६४. अमरौघशासनम् : पृ० ६।

६५. सि० सि० प०—२.३१। गोरक्ष संहिता—१.१३-१४। गोरक्षपद्धति—१.१३-१४।

६६. नाथ और संतसाहित्य (तु० अ०) पृ० २७२-२७३। योगबीजम्-श्लो० १८-१९।

परिपक्व देह या सिद्धदेह की प्राप्ति के लिए योग ही उपाय है। नाथयोगी हठयोग को प्रधान मानते हैं। हठयोग से राजयोग की सिद्धि होती है। हठयोग प्राणायामप्रधान है। मन्त्रयोग, लययोग और राजयोग में भी प्राणायाम और हठयोग सहायक है। प्राण अधिभूत तत्व है। अतः इस दृष्टि से प्राणायाम या हठयोग आधिभौतिक साधन है। एक सफल ध्यानयोगी शरीर और स्वास्थ्य से क्षीण, दुर्बल अल्पायु और रोगी हो सकता है किंतु वह अपनी इच्छा से शरीर त्याग नहीं कर सकता। हठयोग की क्रियाओं से सिद्धदेह या परिपक्व देह की प्राप्ति होती है। मानस साधन के लिए ऐसा शरीर सर्वाधिक उपयुक्त और उचित माध्यम हो सकता है। ऐसे योगी की मृत्यु इच्छा-मृत्यु होती है। गोरक्षनाथादि ने हठयोग या उससे प्राप्त सिद्धियों को भी लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया।[६७] हठयोगप्रदीपिका में स्पष्टतः कहा गया है कि राजयोग में आरूढ़ होने के लिए हठयोगविद्या का अभ्यास करना चाहिए।[६८]

इस योगाभ्यास के आरम्भ के लिए नाथाचार्यों ने संयम का विधान किया है। घेरण्डसंहिता की तरह ही स्वात्मारामरचित हठयोगप्रदीपिका में भी हठयोग का अभ्यास आरम्भ करने के पूर्व आहार, अपथ्य, पथ्य, भोजन आदि से सम्बद्ध संयमों के पालन का उपदेश किया गया है। योगाभ्यास के प्रतिबंधकों के विवरण में अत्याहार, परिश्रम, प्रजल्पन (या बहुभाषण), यमग्रहण (स्नान, रात्रि में ही भोजनग्रहण, फलाहारादि का नियम ग्रहण) जनसंगम, चंचलता इन छः की गणना की गयी है। योगसाधकों में उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय, जगत्संगपरित्याग इन छः की गणना की गयी है। बताया गया है कि यम में मिताहार मुख्य है तथा नियम में अहिंसा।[६९] हठयोगप्रदीपिका के यमनियमसम्बन्धी श्लोक मूल श्लोकों में अन्तर्गणित नहीं हैं। वे ही श्लोक थोड़े-से अन्तर से तांत्रिक ग्रन्थ 'शारदातिलक' में मिलते हैं।

---

६७. नाथयोग : अक्षयकुमार बनर्जी, पृ० १९।

६८. हठयोगप्रदीपिका १.१।

६९. हठयोगप्रदीपिका—१.५७-६३, १.१५,१६,१.३८, ४०। विस्तार के लिए द्रष्टव्य–नाथ और सन्त साहित्य, पृ० २७५-२७७।

हठयोग शब्द की विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं, जो इस प्रकार हैं :

ह + ठ + योग = सूर्य + चन्द्र + योग
ह + ठ + योग = प्राण + अपान + योग
ह + ठ + योग = दक्षिण + वाम + योग
ह + ठ + योग = यमुना + गंगा + योग
ह + ठ + योग = पिंगला + इड़ा + योग
ह + ठ + योग = रजस् + रेतस् + योग।[७०]

गोरक्षनाथ का योग षडंग है। अर्थात् इसमें आसन के बाद के पंतजलि के ६ अंग स्वीकृत हैं। यम-नियम को सामान्यतया अनिवार्य समझकर छोड़ दिया है। आसनस्थैर्य के बाद प्राणायाम के अभ्यास का विधान है। इस प्राणायाम का नाड़ीशोधन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार प्राणायाम प्राण की स्थिरता है। रेचक, पूरक, कुम्भक और संघट्टीकरण इसके चार लक्षण हैं।[७१] बताया गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से यदि पवन को गगन में प्रेरित किया जाय तो घंटा वाद्यादिकों की ध्वनियां उत्पन्न होती हैं तथा सिद्धि की प्राप्ति की सम्भावना होती है।[७२] इस प्रकार प्राणायामाभ्यास में अग्रसर होने पर उसका संबंध नादानुसंधान से भी सिद्ध होता है। इस प्रकार आसन और प्राणायाम के पूर्णाभ्यास से सम्पन्न होकर धारणा का अभ्यास करने का विधान किया गया है।[७३] गोरक्षसंहिता, योगवीज आदि ग्रन्थों में प्राणायाम के साथ मुद्रा, बन्ध, वेध का भी वर्णन सम्बद्ध भाव से वर्णित है। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि प्राणायाम की तुलना में इन्हें अधिक महत्व नहीं दिया गया है। प्राणायाम से ओंकारसाधन

---

७०. हठयोगप्रदीदिका—१.१ तथा उसकी टीका, वही ३.१५ तथा उसकी टीका, योगवीजम् १.८३-९०, नाथ सम्प्रदाय–पृ० १०३।

७१. सि० सि० प०—२.३५।

७२. गो० सं०—२.१८-२०; योगामार्तण्ड—१०८।

७३. गोरक्ष संहिता—२.२१,५२।

भी सम्बद्ध है। ओंकारसाधन और अजपाजप दोनों ही प्राणायाम में अन्तर्भूत हैं। 'ओंकार' की विस्तृत प्रतीकात्मक व्याख्या गोरक्ष-ग्रन्थों में उपलब्ध है। गोरक्षादि सिद्धाचार्य इस प्रणव को वेद का सार नहीं, वेद मानते हैं। इसी को शिवशक्ति-साधन भी कहा गया है। ओंकार को आदिनाद कहा गया है। यह अनाहत और अखण्ड है। इसका अनुसंधान ही नादानुसंधान है। अन्तस् में इसकी सत्ता ही ब्रह्म की अन्तस् में सत्ता है। उसे नाद-ब्रह्म कहते हैं। इसका अनुसंधान ब्रह्मानुसंधान है।[७४]

सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार चैतन्य-तरंगों का प्रत्याहरण, नाना प्रकार के विकारों से चित्त के ग्रस्त हो जाने के कारण उत्पन्न विकारों से भी निवृत्ति प्रत्याहार का लक्षण है। गोरक्षसंहिता में चक्षु आदि के अपने विषयों में विचरण से आहरण को प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार से योगी अपने मानस-विकारों का मोचन करता है।[७५] धारणा में वाह्य और अन्तस् के एकमात्र निजतत्त्वस्वरूप का अन्तःकरण से साधन किया जाता है। जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे निराकार में धारण—जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारण—ये धारणा के लक्षण हैं। इससे मानसस्थैर्य की प्राप्ति बतायी गयी है। हृदय में पंचभूतों के पृथक् धारण तथा मानस के निश्चलत्व के धारण के कारण ही इसे धारणा कहते हैं। भूत-तत्त्वों के अनुसार ही यह धारणा भी पांच प्रकार की मानी जाती है। इन धारणाओं के बाद सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार चित्त का निराकार निजतत्त्व में एकत्व तथा आत्मा का निर्वातदीपत्व सिद्ध होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि कुंडलिनी-योग की साधना धारणान्तर्गत है। इस कुंडलिनीयोग से ही लययोग, भूतजय, भूतलय, भूतशुद्धि, षट्चक्रभेद आदि संबद्ध हैं। कुंडलिनी की मूलाधार से से सहस्रार तक की यात्रा को पृथिवी से आकाश तक की यात्रा कहा गया है। यह आध्यात्मिक यात्रा है। यह साधन आध्यात्मिक साधन है। इस कुंडलिनी को षोडशी तथा उसकी साधना को षोडशीसाधना

---

७४. नाथ और संत साहित्य—पृ० २८३-२८८।

७५. सि० सि०प०—२.३६; गो० सं०—२.२३-३१; योग-मार्तण्ड ११३-११९।

कहा गया है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड-एकत्व का सिद्धान्त इस साधन का ही सिद्धांत पक्ष है। गोरक्ष-मत के मान्य चक्रों की कुछ निश्चित संख्या नहीं बतायी जा सकती। फिर भी तांत्रिकों के कुल सात चक्र अधिकांशतः और सामान्यतः स्वीकृत हैं।[७६]

सिद्धसिद्धांतपद्धति में कहा गया है कि ध्यान परमाद्वैतभाव है। जिन-जिन तत्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है, आत्मा उनकी अपने ही स्वरूप के अनुसार भावना करती है। इस प्रकार ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है। इस ध्यान-साधन में चित्त पूर्णरूप से निश्चल रहता है। सगुण और निर्गुण नामक दो प्रकार के ध्यान बताये गये हैं। सगुण ध्यान विभिन्न वर्णों (रंगों) वाला होता है तथा निर्गुण ध्यान केवल ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक। स्थूल और सूक्ष्म भेद से भी ध्यान दो प्रकार का होता है। स्थूल ध्यान के बाद तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान का वर्णन किया गया है।[७७] समाधि में सभी तत्वों की सम-अवस्था रहती है, निरुद्यमत्व और अनायास की स्थिति रहती है। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है जिसमें शुभ-अशुभ कार्यों का त्याग हो जाता है, विश्वतोमुख अनन्त परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। जब प्राण सम्यक् प्रकार से क्षीण हो जाते हैं तथा मानस भी लय को प्राप्त हो जाता है, जब समरसत्व की प्राप्ति हो जाती है, तब कहा जाता है कि समाधि की अवस्था प्राप्त हो गयी। इस समय अपना - पराया कुछ भी नहीं रहता। हठयोगप्रदीपिका में इस स्थिति के विभिन्न नाम बताये गये हैं: राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। इन शब्दों की अलग-अलग विस्तृत व्याख्याएं मिलती हैं।[७८]

इस प्रकार गोरक्ष के षडंग-योग के दो उद्देश्य बताये गये हैं।

---

७६. नाथ और संत साहित्य—पृ० २८८-२९६

७७. सि० सि० प०—२·३८; योगमार्तण्ड—१०२, १५७; गो० प०—२·६५-७५; योगमार्तण्ड—१५६-१६६; घेरण्डसंहिता—६·२-२२।

७८. नाथ और संत साहित्य—पृ० २९७-२९८।

प्रथम गौण उद्देश्य है सिद्धदेह या दिव्यदेह की प्राप्ति या जीवन्मुक्ति। दूसरा मुख्य उद्देश्य है द्वैताद्वैत-विवर्जित नाथरूप में अवस्थान या पिण्डपद का परमपद में समरसीकरण। संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर उपस्थित किये गये इस गोरक्ष-योग में दो प्रधान साधन हैं: हठयोग और लययोग। इसी प्रकार दो कार्य हैं:—बिन्दुरक्षा और नादानुसंधान। गोरक्ष योगसाधना का मुख्य तत्व है प्राणायाम। दोनों कार्य इसी से साधित होते हैं। इसी आधार पर नाथ लोगों का यह भी कथन है कि यह स्थूल शरीर भी मुक्ति प्राप्त करता है। सिद्धदेह की प्राप्ति के लिए अमृतसाधन भी नाथों को स्वीकार्य है। रस (पारद + अभ्रक) से सिद्धदेह की प्राप्ति की निन्दा गोरक्ष ने अपनी हिन्दी रचनाओं में की है, क्योंकि उससे वास्तविक स्थिर सिद्धदेह की प्राप्ति नहीं होती। गोरक्ष साधन में लोग वज्रोली, सहजोली आदि की भी गणना करते हैं। किन्तु सारी सामग्री की छानबीन करने पर ऐसा संगत प्रतीत नहीं होता कि गोरक्ष ने उनको अपने साधन में स्थान दिया होगा अथवा उनका प्रचार किया होगा।

इस प्रकार गोरक्षनाथ की दर्शन और साधना की परम्परा भारतीय वैदिक परम्परा से भिन्न है। दार्शनिक और साधनात्मक दृष्टि से विचार कर डा० गोपीनाथ कविराज ने श्री अक्षयकुमार बनर्जी के 'फिलासफी आफ गोरक्षनाथ' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना में कहा है कि नाथों की योगसाधना का आदर्श पातंजल योग से ही तत्त्वतः भिन्न नहीं है, प्रत्युत पूर्ववर्ती और परवर्ती बौद्ध मतवादों के साथ ही वह बहुत दूर तक शांकर वेदान्त से भी भिन्न है। प्राचीन और मध्यकालीन आगमानुयायी अद्वैतवादी मतवादों से इस नाथादर्श की पर्याप्त समानता है जिसे 'सामरस्य' कहा गया है। इसी प्रकार नाथसिद्धों की पिण्डसिद्धि और पातंजल कायसंपत् में भी पूर्ण साम्य नहीं है। नाथों का आदर्श है पिण्डसिद्धि से जीवन्मुक्ति प्राप्त करना। तत्पश्चात् समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति के आदर्श को वे स्वीकार करते हैं। अतः अब इस निर्देश के प्रकाश में नाथ-साधन और दर्शन के विचार की नई आवश्यकता स्पष्ट हो गयी है।

—नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

स्वयंबोध अमनस्कयोग[१]

अमनस्कखण्ड[२]

प्रथमाध्याय[३]

कैलासशिखरासीनं सर्वज्ञं सर्वगं शिवम्[४] ।
वामदेवो मुनिश्रेष्ठः प्रणम्य परिपृच्छति ॥ १ ॥

मुनिश्रेष्ठ वामदेव जी ने कैलास पर्वत के शिखर पर बैठे हुए सर्वज्ञ सर्वव्यापी भगवान् शिवजी को प्रणाम कर पूछा ॥ १ ॥

वामदेव उवाच—

देवदेव महादेव सर्वानुग्रहकारक[५] ।
जीवन्मुक्तिप्रदोपायं कथयस्व मम प्रभो ॥ २ ॥

वामदेव जी ने कहा—सब पर अनुग्रह करनेवाले देवाधिदेव हे महादेव जी ! हे प्रभो ! जीवन्मुक्ति प्रदान करनेवाला उपाय मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥ २ ॥

---

१. (ख) अमनस्क योगशास्त्र । २. (ख) नहीं है । ३. (ख) नहीं है । ४. (ख) नहीं है । ५. (ख) प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरुमापतिम् । जीवन्मुक्तिप्रदोपायं कथयस्वेति पृच्छति ।

श्रीमहादेव उवाच१—

शृणु वत्स महाप्राज्ञ संसारार्णवतारकम् ।
अगम्यं सर्ववेदानां गोपितं सकलागमे ॥ ३ ॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि तव संवीक्ष्य वासनाम् ।
अद्वैतं परमं चापि तव भक्तिरहैतुकी ॥ ४ ॥

श्री महादेव जी ने कहा—हे वत्स, हे महामते, ससार सागर से पार करनेवाला जीवन्मुक्तिप्रद उपाय तुम सुनो, यह उपाय सब वेदों का अगम्य है, सब आगमों में छिपाकर रखा हुआ है। तुम्हारी उत्कट अभिलाषा एवं परम अद्वैत देखकर मैं तुमसे कहूंगा, क्योंकि तुम्हारी भक्ति अहैतुकी है ॥३॥४॥

अस्त्येकस्तारको योगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः ।
स एव द्विविधः प्रोक्तः पूर्वापर विभागतः ॥ ५ ॥

सब योगों में परमोत्तम एक "तारक योग" है। वही "पूर्व" और "अपर" विभाग से दो प्रकार का कहा गया है ॥ ५ ॥

पूर्वोक्तस्तारकस्तत्र अमनस्कस्तथापरः ।
प्रथमं तु प्रवक्ष्यामि पूर्वमङ्ग समासत : ॥ ६ ॥

उन योगों में 'पूर्व' जो कहा गया है उसका नाम "तारकयोग" है और "अपर" जो कहा गया है वह "अमनस्क योग" है। पहले मैं अंगभूत 'पूर्व' योग अर्थात् "तारक योग" को संक्षेप में कहूँगा ॥ ६ ॥

सर्वमूर्तिमयं रूपं गुणैरिन्द्रियमानदम् ।
द्विधा कृतं मनोयुक्तं तारकं सर्वसारकम् ॥ ७ ॥

सर्वमूर्तिमय, गुणों से इन्द्रियों को रुचिकर योग स्वरूप दो प्रकार का किया गया है। उनमें मन से युक्त जो योगस्वरूप है वह 'तारक' कहलाता है और मन से अतीत जो योगस्वरूप है वह सर्वसार 'अमनस्क' कहा जाता है ॥ ७ ॥

---

१. (ख) ईश्वर उवाच। परं ज्ञानमहं वच्मि येन तत्त्वं प्रकाशते। येन विच्छिद्यते सर्वमाशापाशादि बन्धनम् ॥ २२ ॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयन् भ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ८ ॥[१]

तारों (आंख की पुतलियों) को ज्योति में लगा कर भौंहो को कुछ ऊंची करे (चढ़ा ले)। यह पूर्वयोग (तारकयोग) का मार्ग क्षणभर में उन्मनी-भाव को उत्पन्न करता है ॥ ८ ॥

एष योगो मया प्रोक्तः पूर्वापरविभागतः।
सर्वमंगल सिद्धार्थं न देयो यस्य कस्यचित् ॥ ९ ॥[२]

इस योग का पूर्वयोग और अपरयोग के विभाग से सब कल्याणों की सिद्धि के लिए मैंने प्रतिपादन किया है। इसे जिस किसीको योग्यता का विचार किये विना नहीं देना चाहिये ॥ ९ ॥

मन्त्रयोगरताः[३] केचित् केचिद् ध्यान विमोहिताः।
जपेन केचित् क्लिश्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ १० ॥

कोई लोग मन्त्रयोग की साधना में लगे हुए हैं, कोई ध्यान के मोह में पड़े हुए हैं, कोई जप योगसे क्लेश पा रहे हैं, ये सब तारक योग को नहीं ही जानते हैं ॥ १० ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ ११ ॥

कोई आगम-समुदाय से, कोई निगमराशियों से और कोई तर्कों से मोहित हैं। ये सब तारक को नहीं ही जानते हैं ॥ ११ ॥

---

१. गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ हठयोगप्रदीपिका ३ : १०९ के इस श्लोक में उपर्युक्त श्लोक के भावानुसार ही उन्मनी भाव अथवा विष्णु पद का व्याख्यान है।

२. (ख) श्लोक सं० ५ से ९ तक नहीं है।

३. (ख) 'तत्र योगरताः' पाठ है। इसके पूर्व (ख) में—
आधारादिषु चक्रेषु सुषुम्णादिषु नाडिषु।
प्राणादिषु शरीरेषु परं तत्वं न तिष्ठति ॥ —यह श्लोक है।

तारको यं भवाम्भोधौ तारणो गुरुशिष्ययोः[१] ।
तारकोन्मेषयुक्तत्वादपि तारक उच्यते ॥ १२ ॥

यह तारक योग भवसागर में गुरु और शिष्य दोनों का तारण करता है। तारिका के उन्मेष[२] से युक्त होने के कारण यह "तारक" कहा जाता है ॥१२॥

न मीमांसातर्कग्रह[३]गणितसिद्धान्तपठनै-
र्न वेदैर्वेदान्तैः स्मृतिभिरभिधानैरपि न च।
न चापिच्छन्दोव्याकरणकवितालंकृतिगणै[४]-
र्मुनेस्तद्व्याप्ति[५]र्निजगुरुमुखादेव विहिता ॥ १३ ॥

मुनि को तारक योग की विशिष्टरूप से प्राप्ति न तो मीमांसा, तर्क (न्याय) तथा फलित, गणित और सिद्धान्तरूप त्रिस्कन्ध ज्योतिष पढ़ने से होती है, न वेद, वेदान्त, स्मृति और कोषों के अनुशीलन से होती है एवं न छन्दःशास्त्र, व्याकरण, काव्य और अलंकारों के अध्ययन से होती है। एकमात्र अपने गुरु के मुखारविन्द से उसकी विशिष्ट प्राप्ति शास्त्रों में कही गई है ॥ १३ ॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं,
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥ १४ ॥

दृश्य के विना ही जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाय, विना किसी प्रकार के प्रयत्न के जिसका वायु स्थिर हो जाय एवं विना किसी अवलम्बन के जिसका चित्त स्थिर हो जाय, वही योगी, है वह गुरु होने योग्य है, उसी की सेवा करनी चाहिये ॥ १४ ॥

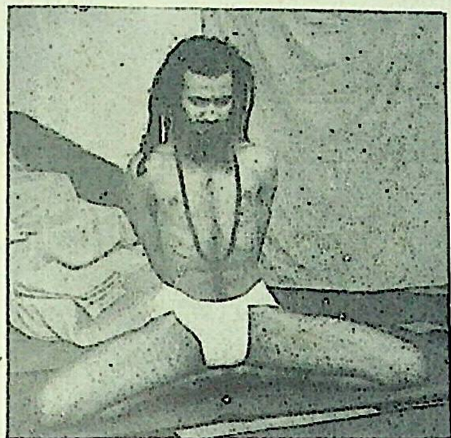
---

१. (ख) ११ और १२ वाँ श्लोक नहीं है।

२. संसार सागर से उत्तीर्ण करनेवाली शक्ति का जागरण। इस शक्ति को चित्-शक्ति, वोध शक्ति या कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं।

३. (ख) तर्कसंग्रह । ४. (ख) लंकृतिमयै--

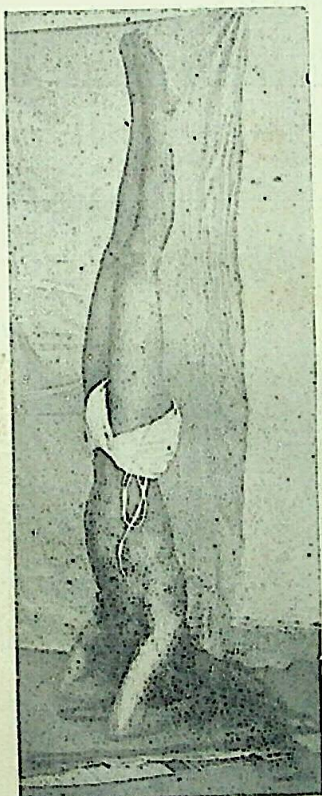
५. (ख) तत्वं प्राप्ति ।



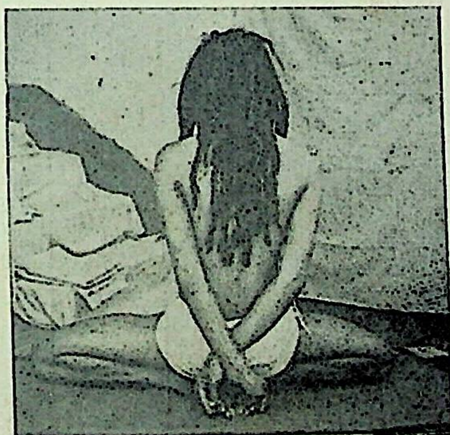
गोरक्षासन (आगेकी बाज़ू)



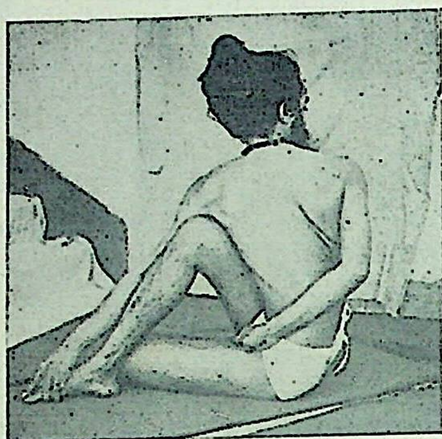
ऊर्ध्व पद्मासन



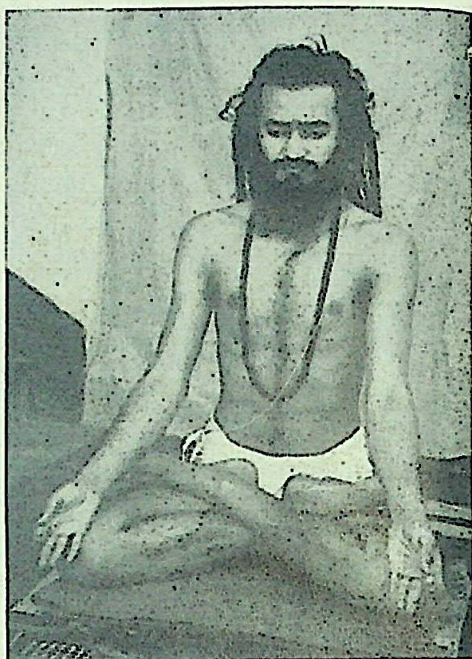
शीर्षासन



गोरक्षासन (पीछेकी बाज़ू)



अर्ध मत्स्येन्द्रासन (पीछेकी बाजू)



पद्मासन



पूर्ण मत्स्येन्द्रासन (आगेकी बाजू)



कर्णपीडासन

एवंविधगुरोः[१]शब्दात् सर्वचिन्ताविवर्जितः ।
स्थित्वा मनोहरे देशे योगमेव समभ्यसेत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार के गुरु के उपदेशानुसार सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर सुन्दर प्रदेश में बैठकर योग का ही सम्यक् अभ्यास करना चाहिये ॥१५॥

विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः
समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात् ।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्ग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व ॥ १६ ॥

सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित हो एकान्त स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुक कर यानी तन कर स्थिर अंग हो सुख पूर्वक बैठ कर एक हाथ तक स्थिर दृष्टिकर योग का अभ्यास करो ॥ १६ ॥

एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम् ।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ॥ १७ ॥

इस प्रकार योग का सम्यास करते करते मन सुस्थिर हो जाता है, क्रमशः वायु, वाणी, देह और दृष्टि में भी स्थिरता आ जाती है ॥ १७ ॥

जायमानामनस्कस्य उदासीनस्य सर्वतः ।
मृदुत्वं च लघुत्वं च शरीरस्योपजायते ॥ १८ ॥

जिसको अमनस्क योग की प्राप्ति हो रही हो और जो सब ओर से उदासीन हो ऐसे योगी के शरीर में मृदुता (कोमलता) लघुत्व (हल्कापन) हो जाता है ॥ १८ ॥

---

१. ऐसे सद्गुरु के विषयमें हठयोगप्रदीपिका में लिखा है कि—
"दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥

काषायग्रहणं कपालधरणं केशावलीलुंचन[१]।
पाखण्डव्रतभस्मचीवरजटाधारित्वमुन्मत्तता ॥
नग्नत्वं निगमागमादिकविता गोष्ठीसभाभ्यन्तरे,
सर्वं चोदरपूरणाय[२] पठनं न श्रेयसः कारणम् ॥ १६ ॥

काषाय (गेरुवे) वस्त्र धारण करना, खप्पर धारण करना, केशों को नोचना, पाखण्डव्रत लेना, भस्म, कन्था और जटा धारण करना, उन्मत्तवत् रहना, नग्न रहना, सभाओं में निगम और आगमों पर व्याख्यान झाड़ना, काव्य गोष्ठी में भाग लेना यह उदरपूर्ति के लिए है। पढ़ना निःश्रेयस् का साधन नहीं है। अर्थात् पठन से निःश्रेयस् की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १६ ॥

[३]द्वेषोच्चाटनमारणादि कुहकैर्मन्त्रैः प्रपंचोद्गमः[४]
सर्वाभ्यास[५] विचित्रबन्धकरणाद्यज्ञानयोगः परः[६]।
ध्यानं देहपदेषु नाडिषु षडाधारे च चेतोभ्रम-
स्तस्मात् तत्सकलं मनोविरचितं त्यक्त्वाऽमनस्कं भज ॥२०॥

द्वेष (विद्वेषण), उच्चाटन, मारण आदि प्रवचनाओं से युक्त मन्त्रों से प्रपंच की उत्पत्ति होती है, पूर्ण अभ्यास, भाँति भाँति के आसनबन्धों का करना केवल अज्ञान ही है, देहस्थित नाड़ियों में तथा षडाधार चक्रों में ध्यान केवल चित्त का विभ्रम है, इसलिए मन से कल्पित इन सब का त्याग कर अमनस्क का सेवन करो ॥ २० ॥

---

१. (ख) मुंचनं। यही पाठ अच्छा प्रतीत होता है। उसका अर्थ होगा केशों का त्याग अर्थात् मुण्डित होना।

२. (ख) पूरणार्थपठनम्।

३. (ख) रक्षोच्चाटन।

४. (ख) मन्त्रप्रपंचोद्गमैः।

५. (क) पूर्णाभ्यास।

६. (क) अज्ञानबोधिः परम् (ख) अज्ञानभोगः परः।

अन्ये च जगतो भावा ये च तिष्ठन्त्यनेकधाः।
तेषां तु लक्षकेणापि परतत्त्वं न मीयते[1] ॥ २१ ॥

और भी जगत् के जो विविध प्रकार के पदार्थ हैं उनके लक्ष से भी परम तत्त्व की बरावरी नहीं की जा सकती। अर्थात् उनकी लाख लाख संख्या से भी पर तत्त्व की समता नहीं की जा सकती, क्योंकि जागतिक पदार्थों में और परतत्त्व में अत्यन्त विलक्षणता है। मूल में 'परतत्त्वं न गीयते' यह पाठ मानने पर 'लाखों जागतिक पदार्थों से परतत्त्व का निरूपण नहीं किया जा सकता' यह अर्थ होगा ॥ २१ ॥

अथाहं वच्मि मोक्षाय ज्ञानरागजितां[2] नृणाम्।
निष्कलं निष्प्रपञ्चं च[3] परतत्त्वं तदुच्यते ॥ २२ ॥

अब मैं ज्ञान से राग पर विजय प्राप्त करनेवाले लोगों की मुक्ति के लिये परतत्त्व का निरूपण करता हूँ। निष्कल और निष्प्रपंच जो तत्व है वह परतत्त्व कहा जाता है ॥ २२ ॥

यस्मादुत्पद्यते सर्वं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यस्मिन् विलीयते सर्वं परतत्त्वं[4] तदुच्यते ॥ २३ ॥

जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमें सब स्थित हैं और जिसमें सब लीन होते हैं वह "पर तत्त्व" कहा जाता है ॥ २३ ॥

भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्तिवर्जितम्।
सर्वसंकल्पनातीतं परतत्त्वं[5] तदुच्यते ॥ २४ ॥

सत् (अस्ति), असत् (नास्ति), सदसत् (अस्तिनास्ति) और असत्-असत् (नास्तिनास्ति) इस चतुष्कोटि से विनिर्मुक्त, विनाश और उत्पत्ति से रहित एवं सर्व कल्पनाओं से अतीत जो तत्व है वह "परतत्त्व" कहा जाता है ॥ २४ ॥

---

१. (ख) तेषां तु लक्षणेनापि परं तत्त्वं न गीयते। (क) परतत्त्वं न गीयते।
२. (ख) ज्ञानं रागजिताम्। ३. (ख) निष्प्रपंचं यत् परं तत्त्वं।
४. (ख) परं तत्त्वं तदुच्यते।
५. (ख) परं तत्त्वं तदुच्यते।

अनाकारमविच्छिन्नमग्राह्यमचलं ध्रुवम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सर्वकामविवर्जितम् ॥ २५ ॥

परम तत्त्व निराकार, अविच्छिन्न अर्थात् जन्म, मरण आदि से रहित अर्थात् शाश्वत, मन और वाणी का अगम्य, निश्चल, अविनश्वर, सब उपाधियों से रहित एवं सब कामनाओं से शून्य है ॥ २५ ॥

प्रथमं पृथिवीतत्त्वं जलतत्त्वं द्वितीयकम् ।
तेजस्तत्त्वं तृतीयं च[1] वायुतत्त्वं चतुर्थकम् ॥ २६ ॥
आकाशं पंचमं तत्त्वं मनः षष्ठमुदीरितम् ।
सप्तमं परमं तत्त्वं यो जानाति स मोक्षभाक् ॥ २७ ॥

पहला पृथिवी तत्त्व कहा गया है, दूसरा जलतत्त्व, तीसरा तेजस्तत्त्व, चौथा वायुतत्त्व, पाँचवाँ आकाश तत्त्व, एवं छठाँ मनस्तत्त्व कहा गया है। सातवाँ परम तत्त्व है उसे जो जानता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ २७ ॥

परं तत्त्वं समाख्यातं जन्मबन्धविनाशनम् ।
तस्याभ्यासं प्रवक्ष्यामि येन संजायते लयः ॥ २८ ॥

"परतत्त्व" जन्मरूप बन्धन का विनाशक कहा गया है। मैं उसके अभ्यास की विधि बतलाऊंगा जिससे लय होता है ॥ २८ ॥

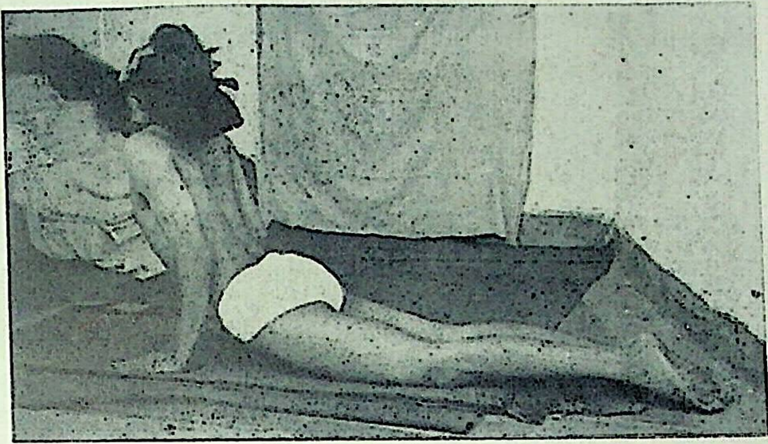
विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः
समासने किंचिदुपेत्य पश्चात् ।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिरांग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं[2] कुरुष्व ॥२९॥[3]

निर्जन और पवित्र स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुक कर अर्थात् तन कर सुख से बैठे हुए तुम एक हाथ दूर तक दृष्टि को स्थिर कर निश्चल शरीर और चिन्ताविहीन होकर उस परमतत्त्व का अभ्यास करो ॥ २९ ॥

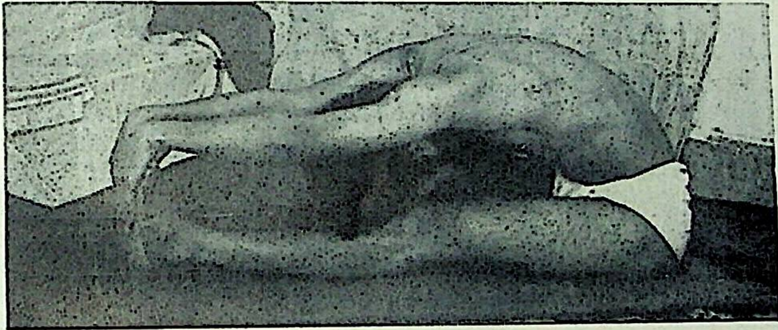
---

१. (ख) स्यात् ।

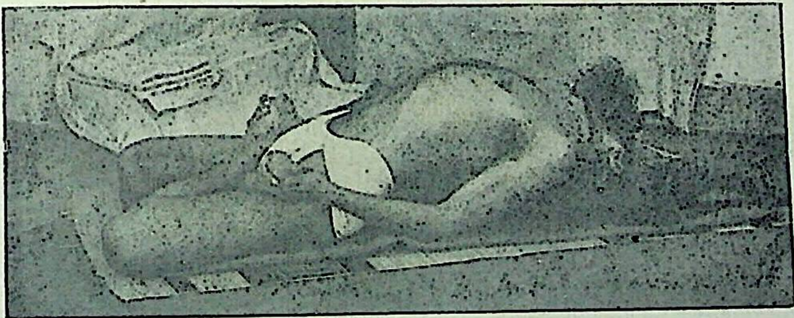
२. (ख) स्थिरांगं । ३. श्लोक १६ की यहाँ पर जो पुनरावृत्ति हुई है इसका कारण आसन के पश्चात् ही ध्यान की प्रक्रिया द्वारा अमनस्क योग का निरूपण करना है ।



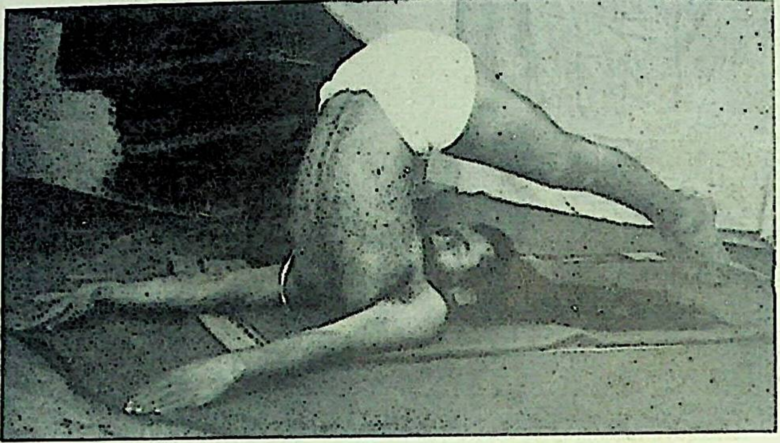
भुजंगासन



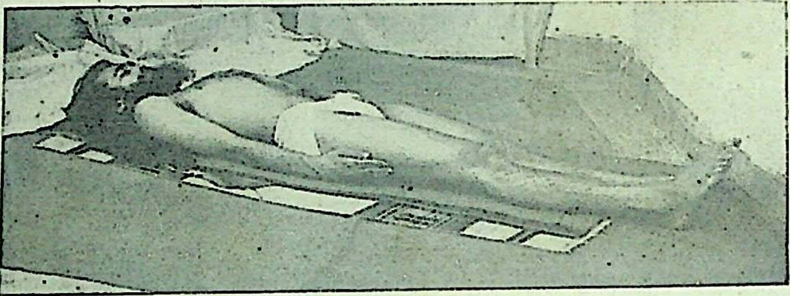
पश्चिमोत्तानासन



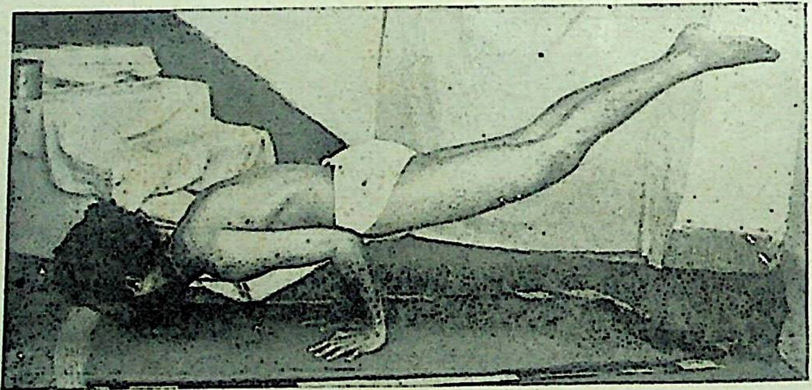
मत्स्यासन



पूर्वोत्तानासन (हलासन)



शवासन



मयूरासन (सव्य)

सुखासने समासीनस्तत्त्वाभ्यासं समाचरेत् ।
सदाभ्यासेन तत्कुर्यात् परतत्त्वप्रकाशनम्[१] ॥ ३० ॥

सुखासन पर बैठकर परतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये । साधक को चाहिये कि सदा के अभ्यास द्वारा उस परतत्त्व को प्रकाश में लावे ॥ ३० ॥

ब्रह्माण्डं पंचभूतस्थं पंचभूतमयी तनुः ।
सर्वं भूतमयं चेति[२] त्यक्त्वा नास्तीति चिन्तय[३] ॥३१॥

सारा ब्रह्माण्ड पंचभूतों पर आधृत है, शरीर भी पंचभूतमय है, यही क्यों सब कुछ भूतमय है, इसलिए उन सबका परित्याग कर "ये है ही नहीं" ऐसी भावना करो ॥ ३१ ॥

न किंचिन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ता विवर्जितः ।
सबाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसंमुखः ॥ ३२ ॥[४]

सब तरह की चिन्ताओं से रहित होकर मन से किसी का भी चिन्तन न करे ऐसे योगी के बाहर और भीतर तत्त्व सम्मुख हो जाता है अर्थात् उसे बाहर और भीतर तत्त्व का स्फुरण हो जाता है ॥ ३२ ॥

तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क[५] प्रजायते ।
अमनस्केऽपि संजाते चित्तादि[६]विलयो भवते ॥ ३३ ॥

तत्त्व के संमुख होने पर[७] अमनस्क योग हो जाता है । अमनस्क योग की प्राप्ति होने पर चित्त आदि का भली भांति लय हो जाता है ॥ ३३ ॥

---

१. (ख) परं तत्त्वं प्रकाशते ।
२. (ख) वेति ।
३. (ख) भावयेत् ।
४. हठयोगप्रदीपिका में भी लिखा है कि :—

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम् ।
सर्वचिन्ता परित्यज्य न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

५. (ख) त्वमनस्कं ।
६. (ख) चिन्तादिविलयो ।
७. आत्मा के संमुख होने पर ।

चित्तादिविलये जाते पवनस्य लयो भवेत्[१] ।
मनःपवनयोर्नाशादिन्द्रियार्थं विमुञ्चति ॥ ३४ ॥

चित्त आदि का विलय हो जाने पर पवन (वायु) का लय हो जाता है। मन और पवन दोनों का विनाश (विलय) होने पर साधक इन्द्रियार्थों (रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श) का त्याग कर देता है। 'इन्द्रियार्थाद् विमुच्यते' ऐसा पाठ मानने पर इन्द्रियार्थों से मुक्त हो जाता है, यह अर्थ करना चाहिये ॥ ३४ ॥

इन्द्रियार्थैर्यदा मुक्तो[२] बाह्यज्ञानं न जायते ।
बाह्यज्ञाने विनष्टे च ततः सर्वसमो भवेत् ॥ ३५ ॥

जब साधक इन्द्रियार्थों से (रूप, शब्द, गन्ध आदि से) मुक्त हो जाता है तब उसे बाहरी ज्ञान नहीं होता है। बाहरी ज्ञान के विनष्ट होने पर वह "सर्वसम" यानी विषमता रहित हो जाता है ॥ ३५ ॥

यदा सर्वसमे जाते[३] भवेद् व्यापारवर्जितः ।
परब्रह्मणि[४] सम्पन्नो[५] योगी प्राप्तलयस्तदा ॥ ३६ ॥

जब साधक सर्वसम होने पर व्यापाररहित होता है तब परब्रह्म में सम्पन्न योगी लय को प्राप्त कहा जाता है। ३६ ॥

सदाभ्यासरतानां च यः परो जायते लयः ।
तस्याहं संप्रवक्ष्यामि लक्षणं मुक्तचेतसः ॥ ३७ ॥

सदा परतत्त्व के अभ्यास में निरत योगियों का जो उत्कृष्ट लय होता है उसका, जिसमें चित्त मुक्त हो जाता है, लक्षण मैं आगे कहूँगा ॥ ३७ ॥

---

१. (ख) यह पूरी पंक्ति नहीं है।

२. (ख) इन्द्रियार्थे विनिर्मुक्ते ।

३. (ख) यदासर्वसमो जातो ।

४. (ख) परे ब्रह्मणि ।

५. (ख) संबुद्धः ।

सुखदुःखे न जानाति शीतोष्णं न च विन्दति।
विचारं चेन्द्रियार्थानां न वेत्ति[1] विलयं गतः ॥ ३८ ॥

लय को प्राप्त हुआ योगी सुख और दुःख नहीं जानता है, शीत और उष्ण की प्रतीति भी उसे नहीं होती है एवं इन्द्रियार्थों—रूप, रस, गन्ध आदि विषयों—का विचार तक उसके मन में नहीं आता ॥ ३८ ॥

न जीवन्न मृतो[2] वापि न पश्यति न मीलति।
निर्जीवः काष्ठवत्तिष्ठेत् लयस्थश्चाभिधीयते ॥ ३९ ॥

जो पुरुष न जीवित है, न मृत है, न पलक खोलता है और न पलक गिराता है, निर्जीव काष्ठ के तुल्य रहता है वह लयस्थ कहा जाता है ॥ ३९ ॥

निर्वातस्थापितो दीपो भासते निश्चलो यथा।
जगद्व्यापार निर्मुक्तस्तथा योगी लयं गतः ॥ ४० ॥

वायु रहित स्थान पर रखा हुआ दीपक जैसा निश्चल दिखाई देता है वैसा ही लय को प्राप्त हुआ योगी जगत् के सब व्यापारों से निर्मुक्त (निश्चेष्ट) हो जाता है ॥४०॥

यथा वातैर्विनिर्मुक्तो निश्चलो निर्मलोऽर्णवः।
शब्दादिविषयैस्त्यक्तो लयस्थो दृश्यते तथा[3] ॥ ४१ ॥

जैसे वायु से रहित (विना ज्वारभाटे का) सागर निर्मल और निश्चल दिखाई देता है वैसे ही शब्दादि विषयों से परित्यक्त लयस्थित योगी भी निश्चल दिखाई देता है ॥ ४१ ॥

प्रक्षिप्तं लवणं तोये क्रमाद् यद्वद्विलीयते।
मनोऽप्यभ्यासयोगेन तद्वद् ब्रह्मणि लीयते[4] ॥ ४२ ॥

जैसे जल में छोड़ा हुआ नमक का ढेला धीरे धीरे लीन हो जाता है वैसे ही अभ्यासयोग से मन भी परब्रह्म में लीन होता है ॥ ४२ ॥

---

१. (ख) चेष्टा विलयं गतः।
२. (ख) न च जीवन्मृतो।
३. (ख) तदा। ४. (ख) इस श्लोक के आदि दो पादों के बाद श्लोक सं० ३४ का पूर्वार्द्ध और जोड़ दिया गया है—'चित्तादि विलये जाते पवनस्य लयो भवेत्'।

लवणं तोयसंस्पर्शाद् यथा[1] तोयमयं भवेत् ।
मनोऽपि ब्रह्म संस्पर्शात्तथा ब्रह्ममयं भवेत् ॥ ४३ ॥

जैसे नमक जल के सम्पर्क से जलमय हो जाता है वैसे ही ब्रह्म के संस्पर्श से मन भी ब्रह्ममय हो जाता है ।। ४३ ॥

यथाक्षारमयत्वेन प्राप्नोति[2] लवणं स्वकम् ।
ब्रह्मज्ञानमयत्वेन निर्वाणं मनसस्तथा ॥ ४४ ॥

जैसे जल में लवण की सत्ता जल के क्षारमय होने से प्राप्त होती है वैसे ही मन का ब्रह्म में निर्वाण मन के ब्रह्मज्ञानमय होने से प्रतीत होता है ॥४४॥

घृतात् पृथक्त्वारहितं घृते लीनं घृतं यथा ।
तत्त्वे लीनस्तथा योगी पृथग्भावं न विन्दति ॥ ४५ ॥

जैसे घृत में डूबा हुआ घृत घृत से पृथकता (भेद) रहित अर्थात् भिन्न नहीं है वैसे ही तत्त्व (सत्ता) में लीन हुआ योगी पृथग्भाव अर्थात् तत्त्व से अपना भेद नहीं जानता है ॥ ४५ ॥

निमेषेण श्वासपलै[3]र्नाडीभिः प्रहरैर्दिनैः ।
मासैः संवत्सरैः कालैर्लयस्थस्तत्परं[4] व्रजेत् ॥ ४६ ॥

एक निमेष (पलक गिरने के समय तक), श्वास, पल, घड़ी, पहर, दिन, मास और वर्ष तक लयस्थित हुआ योगी उस पर तत्त्व को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

श्वासोच्छ्वासात्मकः प्राणः षड्भिः प्राणैः पलं स्मृतम् ।
पलैः षष्टिभिरेव स्यात् घटिका कालसंमिता[5] ॥ ४७ ॥

श्वास और उच्छ्वास रूप काल 'प्राण' कहलाता है, छह प्राणों से एक पल कहा गया है और साठ पलों से एक घड़ी समय कहा गया है ॥ ४७ ॥

---

१. (ख) संस्पर्शात् ।
२. (क) प्राप्यते ।
३. (ख) निमेषश्वासपलकैः ।
४. (ख) लयस्थोऽथ परं ।
५. (क) कालसंमता ।

योगी निमेषमात्रेण लयेन लभते ध्रुवम् ।
स्पर्शनं परतत्त्वस्याप्युत्थानं च पुनः पुनः ॥ ४८ ॥

योगी एक निमेषमात्र के लय से निश्चय ही परतत्त्व के स्पर्श को प्राप्त होता है और उससे पुनः पुनः व्युत्थान को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

धर्मशान्तिः प्रजायेत मुहुर्निद्रा च मूर्च्छना ।
निमेषषट्कमात्रेण लयेनान्तःस्थ योगिनः[१] ॥ ४६ ॥

छह निमेषों तक के लय से अन्तर्वृत्तिवाले योगी की तापशान्ति होती है, बार बार निद्रा और मूर्च्छा आती है ॥ ४६ ॥

श्वासमात्रलयेनापि तेन प्राणादिवायवः ।
श्वासप्रवाहसम्बन्धात् स्वे स्वे स्थाने वहन्ति ते ॥ ५० ॥

एक श्वास तक रहनेवाले लय से भी प्राण आदि वायु श्वास प्रवाह के साथ सम्बन्ध होने से अपने अपने स्थान में वहते हैं ॥ ५० ॥

श्वासद्वयलयेनापि कूर्मनागादिवायवः[२] ।
निवर्तन्ते च धातूनां बन्धं कुर्वन्ति धातुगाः[३] ॥ ५१ ॥

दो श्वास तक रहने वाले लय से भी कूर्म, नाग आदि वायु निवृत्त हो जाते हैं और धातुगत होकर धातुओं को पुष्ट करते हैं ॥ ५१ ॥

चतुःश्वासलयेनापि सप्तधातुगताः रसाः ।
रसपुष्टिं[४] प्रकुर्वन्ति धातूनां समवायवः ॥ ५२ ॥

चार श्वास तक के लय से भी सातों धातुओं (कफ, पित्त, रस, रक्त, वसा, मज्जा, शुक्र) के रस समवायु होकर धातुओं के रसों की पुष्टि करते हैं ॥ ५२ ॥

---

१. (ख) लयेनिष्ठा च योगिनः ।

२. (ख) कूर्मवातादिवायवः ।

३. (ख) धातवः ।

४. (ख) समं पुष्टिं ।

लयेन पलमात्रेण[१] चासनस्थो न खिद्यते[२] ।
स्वल्पश्वासो भवेद् योगी स्वल्पोन्मेषयुतस्तदा[३] ॥ ५३ ॥

एक पल तक के लय से भी आसन पर चाहे कितनी ही देर तक क्यों न बैठे, योगी को थकान मालूम नहीं होती है। तब उसके श्वास-प्रश्वास कम हो जाते हैं और निमेष-उन्मेष भी बहुत कम होते हैं ॥ ५३ ॥

पलद्वयलयेनापि हृन्नाड्याश्चालनं[४] भवेत् ।
अनाहतः स विज्ञेयो मनस्तत्रैव विन्यसेत्[५] ॥ ५४ ॥

दो पल तक के लय से भी हृदय-नाड़ी का चालन (जागना) होता है[६], उसे अनाहत जानना चाहिये। योगी मन को उसी में लगावे ॥ ५४ ॥

चतुःपलप्रमाणेन लयेनानुभवो भवेत् ।
अकस्मान्निपतत्येव शब्दः कर्णे शुभावहः[७] ॥ ५५ ॥

चार पल तक के लय से अनुभव होता है। अकस्मात् कान में सुन्दर सुमधुर शब्द सुनाई पड़ता है ॥ ५५ ॥

पलाष्टकलयेनापि कामस्तस्य निवर्तते ।
कदापि[८] नैव जायेत कामिन्यालिंगितस्य च ॥ ५६ ॥

आठ पल तक के लय से उसकी कामवासना निवृत्त हो जाती है। कामिनी द्वारा आलिंगित होने पर उसे कभी भी कामोत्पत्ति नहीं होती है ॥ ५६ ॥

---

१. (ख) लयेन लयमात्रेण ।
२. (ख) विद्यते ।
३. (ख) स्वल्पो मेखलयस्तथा ।
४. (ख) हृन्नाड्याश्चलनं ।
५. (ख) तत्रैवमभ्यसेन्मनः ।
६. "हृदय-नाडी का चालन" का अर्थ है अनाहत का क्रियाशील होना ।
७. (ख) शब्दसपातं शुभाशुभम् ।
८. (क) तथापि ।

कलापादलयेनापि सुषुम्णां यान्ति वायवः[१] ।
सुषुम्णावदने गत्वा आशु शुद्धयन्ति वायवः[२] ॥ ५७ ॥

चौथाई कला (घड़ी) तक के लय से भी प्राणादि वायु सुषुम्णा में चले जाते हैं । सुषुम्णा के मुख में गमन से तत्काल सब वायु शुद्ध हो जाते हैं ॥५७॥

घटिकार्द्धलयेनापि शक्तिः कुण्डलिनी परा[३] ।
मनोवातनिरोधेन जागर्त्याधारसंस्थिता[४] ॥ ५८ ॥

आधी घड़ी तक के लय से निश्चय ही मूलाधार में स्थित परा कुण्डलिनी शक्ति मन और वायु के निरोध से जाग जाती है ॥५८ ॥

कलामात्रलयेनापि[५] शक्तिः संचलते ध्रुवम् ।
[६]ऊर्द्ध्वपश्चिममार्गेण वातरोधेन जाग्रती[७] ॥ ५९ ॥

एक घड़ी तक के लय से भी वायु का रोध होने पर जगी हुई कुण्डलिनी शक्ति पश्चिम मार्ग (सुषुम्णा मार्ग) द्वारा ऊर्ध्वमुखी होकर चलने लगती है ॥ ५९ ॥

कलाद्वयलयेनापि शक्तेः संचलनेन वा[८] ।
क्षणादुत्पद्यते तस्य मनसः कम्पनं सकृत् ॥ ६० ॥

दो घड़ी तक के लय से तथा शक्ति के संचलन से एक क्षण में एक बार योगी के मन कम्पन उत्पन्न होता है ॥ ६० ॥

---

१. (ख) सुषुम्णामार्गवाहिनी ।
२. (ख) तदा पश्चिममार्गेण तस्य भोगेन गच्छति । (क) मील्या (शुचिवद्यान्ति) वायवः ।
३. (क) शक्तिः संचलते ध्रुवम् । (ख) शक्ति कुण्डलिनी परा ।
४. (क) ऊर्ध्वपश्चिममार्गेण वातरोधेन जाग्रति (जाग्रती ?) ।
५. (क) घटिकैकलयेनापि सुषुम्णा मार्गवाहिनी ।
६. कला ।
७. गच्छति ।
८. (क) शक्तिसंचालनेन वा । (ख) शक्ते संचलनेन च ।

चतुः कलालयेनापि निद्राभावो निवर्तते ।
हृदि स्फुलिंगवद् योगी तेजोबिन्दुं प्रपश्यति ॥ ६१ ॥

चार घड़ी तक के लय से योगी का निद्राभाव निवृत्त हो जाता है और वह हृदय में चिनगारी के सदृश तेजो बिन्दु का दर्शन करता है ॥ ६१ ॥

दिनपादलयेनापि स्वल्पाहारो भवेन्नरः[१] ।
स्वल्पमूत्रपुरीषश्च लघुता स्निग्धता तनोः[२] ॥ ६२ ॥

चौथाई दिन तक के लय से भी योगी पुरुष का आहार बहुत घट जाता है, उसका मूत्र और पुरीष (मल) भी बहुत अल्प मात्रा में होता है एवं शरीर में हल्कापन और स्निग्धता आ जाती है ॥ ६२ ॥

वासरार्धलयेनापि स्वात्मज्योतिः प्रकाशते ।
सूर्यो गोभिरिवोद्दीप्तो[३] योगी विश्वं प्रकाशते ॥ ६३ ॥

आधे दिन तक के लय से आत्मज्योति प्रकट होती है। सूर्य जैसे किरणों से उद्दीप्त रहता है वैसे ही योगी उद्दीप्त होकर विश्व को प्रकाशित करता है ॥ ६३ ॥

दिनमात्रलयेनापि स्वात्मतत्त्वं प्रकाशते ।
इन्द्रियज्ञानविस्तारो ब्रह्माण्डेऽप्यनुवर्तते[४] ॥ ६४ ॥

दिन भर तक रहने वाले लय से आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है और इन्द्रियों के ज्ञान का विस्तार सारे ब्रह्माण्ड तक हो जाता है ॥ ६४ ॥

---

१. (ख) भवेत्ततः ।

२. (ख) स्वल्पमूत्रपुरीषत्वं लघुता स्निग्धता तथा ।

३. (ख) स सुगोभिरिवोद्दीप्तो ।

४. (ख) ब्रह्माण्डेप्यस्य जायते ।

अहोरात्रलयेनापि योगी च स्वासने स्थितः[१] ।
चित्तवृत्तिनिरोधेन[२] गन्धं जानाति दूरतः ॥ ६५ ॥

एक दिनरात तक के लय से भी अपने आसन पर स्थित ही योगी चित्त-वृत्ति का निरोध होने से दूर से ही गन्ध जान जाता है ॥ ६५ ॥

अहोरात्रद्वयेनापि लयेनानन्दमूर्च्छितः ।[३]
दूरादपि रसं वेत्ति योगी संकल्पवर्जितः ॥ ६६ ॥

दो दिनरातों तक के लय से भी लयजनित आनन्द से मूर्छित हुआ संकल्परहित योगी दूर से ही रस को जान जाता है ॥ ६६ ॥

अहोरात्रत्रयेणापि लयेनान्तस्थयोगिनः[४] ।
दूरदर्शनविज्ञानं[५] स्वभावेनैव वर्तते ॥ ६७ ॥

तीन अहोरात्रव्यापी लय से अन्तर्मुख हुए योगी का स्वभावतः ही दूर-दर्शन विज्ञान हो जाता है ॥ ६७ ॥

अहोरात्रचतुष्केण लयभावप्रभावतः ।
स्पर्शं जानाति योगीन्द्रो दूरादपि न संशयः ॥ ६८ ॥

चार अहोरात्र व्यापी लयभाव के प्रभाव से योगिराज दूर से भी स्पर्श को जान जाता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६८ ॥

पंचरात्रलयेनापि तस्याप्युत्पद्यते ध्रुवम् ।
दूरश्रवणविज्ञानं मनसाश्चर्य कारणम् ॥ ६९ ॥

पांच अहोरात्रव्यापी लय से उस योगिराज का निश्चय ही आश्चर्यजनक मन से दूर के शब्द को सुनने का विज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥ ६९ ॥

---

१. (क) लयादानन्दमूर्छितः ।

२. (ख) स्थितिवृत्तिनिरोधेन ।

३. (ख) लयानन्दसमूर्छितः । (क) लयनादेषु मूर्छित ।

४. (ख) लयानन्दस्य योगिनः ।

५. (ख) दूराद् दर्शन विज्ञानं ।

एकत्वं चेन्द्रियज्ञानं महत्स्वानुभवात्मकम्[१] ।
जानात्यनेन योगीन्द्रः सकलं विश्ववर्तनम् ॥ ७ ॥

इससे योगिराज स्वानुभवात्मक एकत्व, विस्तृत ब्रह्माण्डव्यापी इन्द्रियज्ञान तथा सकल विश्व में स्थिति जान जाता है ॥ ७० ॥

रात्रिपट्कलयेनापि[२] महाबुद्धिः प्ररोहति ।
तावत्कार्यमतीतं[३] च विश्वज्ञानं प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

छह अहोरात्रव्यापी लय से महाबुद्धि उत्पन्न होती है जिससे सब कार्यों तथा अतीत और अनागत विश्व का ज्ञान होता है ॥ ७१ ॥

सप्तरात्रलयेनापि परे लीनस्य योगिनः ।
आब्रह्मविश्ववेतृत्वं श्रुतिज्ञानं च वर्तते[४] ॥ ७२ ॥

सात अहोरात्रव्यापी लय से भी परतत्त्व में लीन हुए योगी का ब्रह्म-पर्यन्त विश्वज्ञान तथा श्रुतिज्ञान हो जाता है ॥ ७२ ॥

अष्टरात्रलयेनापि भवेद् योगी निरामयः ।
क्षुत्पिपासादिभावैश्च सहजस्थो न पीड्यते[५] ॥ ७३ ॥

आठ अहोरात्रव्यापी लय से सहजस्थ (परतत्त्व में लीन) योगी, निरोग हो जाता है एवं क्षुधा, प्यास आदि से भी पीड़ित नहीं होता है ॥ ७३ ॥

नवरात्रलयेनापि निर्वेदस्यात्मवर्त्मनः[६] ।
वाचः सिद्धिर्भवत्येव[७] शापानुग्रहकारिणी ॥ ७४ ॥

नौ अहोरात्रव्यापी लय से अपरोक्ष आत्मज्ञान के मार्गरूप निर्वेद (वैराग्य) की सिद्धि तथा शाप और अनुग्रहकारिणी वाक्सिद्धि अवश्य ही होती है ॥ ७४ ॥

---

१. (ख) एवं पंचेन्द्रियज्ञानं महत्तत्त्वस्य कारणम् ।
२. (ख) पड्रात्रिविलयेनापि ।
३. (क) यावत्कर्ममतीतं च । (ख) यावत्तर्कमतीतं च ।
४. (ख) आब्रह्मविश्वेश्वरत्वं श्रुतिज्ञानं च जायते ।
५. (ख) सहजैरपि न पीड्यते ।
६. (ख) निर्भेदः स्वात्मवर्तिनः ।
७. (ख) वाचासिद्धि भवेत्तस्य ।

दशरात्रलयेनपि योगीन्द्रः स्वात्मनि स्थितः।
यानि कानि च गुप्तानि[1] महाचित्राणि पश्यति ॥ ७५ ॥

दस अहोरात्रव्यापी लय से स्वात्मनिष्ठ योगीन्द्र भाँति-भाँति के गुप्त महाश्चर्यों को देखता है ॥ ७५ ॥

[2]ततश्चैकादशाहेन[3] लयस्थस्य जवोदयात्।
मनसा सहितस्यापि गन्तुमिच्छति विग्रहः ॥ ७६ ॥

ग्यारह अहोरात्र तक लय में स्थित योगीन्द्र की मन के साथ-साथ काया की गति होती है ॥ ७६ ॥

द्वादशाहलयेनापि भूचरत्वं हि सिद्ध्यति।
निमेषार्धप्रमाणेन[4] पर्यटत्येव भूतले[5] (लम् ?) ॥ ७७ ॥

बारह अहोरात्रव्यापी लय से योगराज को भूचरत्व की सिद्धि होती है जिसके कारण केवल आधे निमेष (पलक मारने) में सारे भूतल में चारो ओर घूम लेता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७७ ॥

ततस्त्रयोदशाहेन लयेनापि महाद्भुताम्[6]।
योगीन्द्रः खेचरीसिद्धिं लभते चिन्तनादपि[7] ॥ ७८ ॥

तदनन्तर तेरह अहोरात्रव्यापी लय से योगिराज को केवल चिन्तनमात्र (खयाल करने) से अद्भुत खेचरी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ७८ ॥

---

१. (ख) सुगुप्तानि।
२. (क) तथा।
३. (क) तस्य चैकादशाहेन लयस्थस्य जयोदयात्।
४. (क) निमिषार्धप्रमाणेन।
५. (ख) भूतलम्।
६. (क) और (ख) महाद्भुतम्।
७. (ख) चेतनादपि।

चतुर्दशदिनान्तं तु[१] लयस्थो यदि तिष्ठति ।
अणिमाख्या च सिद्धिः[२] स्यादणुत्वं प्राप्यते यया ॥७६॥

यदि योगी चौदह दिन पर्यन्त लगातार लयस्थित रह जाता है तो अणिमा नाम की सिद्धि उसे प्राप्त होती है जिससे अणुत्व प्राप्त किया जाता है ॥७६॥

आत्मन्येवात्मना लीनो योगी षोडशवासरान्[३]।
लभते महिमासिद्धिं महारूपस्य धृग् यया[४] ॥ ८० ॥

यदि योगी लगातार सोलह दिनों तक आत्मा में स्वयं लीन रहे तो 'महिमा' नाम की सिद्धि उसे प्राप्त होती है जिससे वह महान् रूप धारण करता है ॥ ८० ॥

अष्टादशदिनान्तं तु[५] लयस्थो यदि तिष्ठति ।
गरिमाख्या भवेत् सिद्धिर्यथाभूभारधृग्[६] भवेत् ॥ ८१ ॥

यदि योगी अठारह दिनों तक लगातार लयस्थ रहता है तो उसे 'गरिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे वह आवश्यकता पर भूमिका-सा भारीपन धारण कर लेता है ॥ ८१ ॥

अभिन्नार्थे लये वापि यश्च विंशतिवासरान्[७] ।
लघिमाख्या भवेत्सिद्धिर्यथाणुत्वस्य[८] भारधृक् ॥ ८२ ॥

जो योगी परतत्त्व में लगातार बीस अहोरात्र लीन रहता है उसे 'लघिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिसमे वह अणु का भार धारण कर लेता है ॥ ८२ ॥

---

१. (ख) चतुर्दशदिनानां च ।
२. (ख) अणिमाद्यष्टसिद्धिः स्याद० ।
३. (ख) वासरात् ।
४. (ख) स महारूपधृक् यथा ।
५. (ख) अष्टादश दिनानां च ।
६. (ख) गरिमाख्यां लभते सिद्धिं यथा ।
७. (ख) पंचविंशतिवासन् ।
८. (ख) सिद्धिर्यंथा ।

द्वाविंशतिदिनान्येवं स्वलक्ष्ये विलयं गतः[१] ।
प्राप्तिसिद्धिर्भवेत्तस्य प्रापयेद्धि जगत्स्थितिम् ॥ ८३ ॥

यदि योगी अपने लक्ष्यभूत परतत्त्व में इस प्रकार से लगातार बाईस दिनों तक विलय को प्राप्त होता है तो उसे 'प्राप्ति' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे वह सारे जगत् को स्थिति प्राप्त कराता है ॥ ८३ ॥

परे लयं गतो योगी चतुर्विंशतिवासरान् ।
तस्य प्राकाम्यसिद्धिः स्यादिच्छितं लभते ध्रुवम्[२] ॥ ८४ ॥

यदि योगी लगातार २४ दिनों तक परतत्त्व में लय को प्राप्त रहता है तो उसे 'प्राकाम्य' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे अवश्य ही उसे मनोभिलषित पदार्थों की प्राप्ति होती है ॥ ८४ ॥

यस्यैवास्तगतं चित्तं षड्विंशतिदिनानि वै ।
लभते जगतीशित्वं[३] येन विश्वगुरुर्भवेत् ॥ ८५ ॥

जिसका चित्त लगातार छब्बीस दिनों तक परतत्त्व में अस्त (लीन) रहता है वह जगत् में 'ईशित्व' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है जिससे वह विश्वगुरु होता है ॥ ८५ ॥

अष्टाविंशत्यहान्यस्य[४] लयस्तिष्ठेत् स्थिरात्मनः[५] ।
वशित्वसिद्धिप्राप्तिः स्याद्ययावै वशयेज्जगत्[६] ॥ ८६ ॥

जिस स्थिरात्मा योगिराज का लगातार अट्ठाईस दिनों तक पर तत्व में लय स्थायी रहता है उसे 'वशित्व' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे वह सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में कर सकता है ॥ ८६ ॥

---

१. (ख) द्वाविंशतिदिनानि स्याल्लयक्षेपो लयंगतः ।

२. (ख) वशित्वं लभते तथा ।

३. (क) जगदीशित्वम्' और (ख) 'जगदीशत्वम्' ।

४. (क) और (ख) अष्टविंशत्यहर्यस्य ।

५. (ख) लयस्थस्यस्थिरासने ।

६. (ख) वश्यकृज्जगत्।

गन्तुमिच्छन्ति ये केचित् परे ब्रह्मपदे लयम् ।
भवन्ति सिद्धयस्तेषां [1]सर्वा विध्वंसकारिका: ।। ८७ ।।

जो कोई महापुरुष परब्रह्म पद में लीन होना चाहते हैं उनके लिये ये पूर्वोक्त सब सिद्धियां सर्वनाशकारिणी होती हैं इसलिए उन्हें सिद्धियों की ओर आकृष्ट नहीं होना चाहिये ।। ८७ ।।

मासमेकं लयो यस्य लग्नस्तिष्ठत्यखण्डित:[2] ।
न जागर्ति स योगीन्द्रो यावन्मोक्षं न विन्दति[3] ।। ८८ ।।

जिस योगी का एक मास तक लगातार अखण्डित लय रहता है वह योगिराज जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक जागता नहीं है ।। ८ ।।

नवमासलयेनापि पृथ्वीतत्त्वं स विन्दति[4] ।
पृथ्वीतत्त्वे तु[5] संसिद्धे योगीन्द्रो वज्रसंनिभ: ।। ८९ ।।

नौ महीने तक के लय से योगिराज को पृथिवी तत्त्व का लाभ हो जाता है। पृथिवी तत्त्व के सिद्ध हो जाने पर योगिराज वज्र तुल्य देह हो जाता है अर्थात् उसकी काय-सिद्धि हो जाती है ।। ८९ ।।

सार्धसंवत्सरेणापि लयस्थस्यापि योगिन: ।
तोयतत्त्वस्य सिद्धि: स्यात् तोयतत्त्वमयो भवेत्[6] ।। ९० ।।

डेढ़ वर्ष तक लगातार परत्त्व में लीन योगी को जलतत्त्व की सिद्धि होती है जिससे योगी जलतत्त्वमय होता है ।। ९० ।।

---

१. (ख) सर्वास्तेषां ।
२. (ख) मासमेकं लये यस्य लयस्तिष्ठेदखण्डित: ।
३. (ख) यावन्मोक्षं स गच्छति ।
४. (ख) स गच्छति ।
५. (ख) पृथ्वीतत्त्वेति संसिद्धे ।
६. (ख) तोयतत्त्वमयो हि स: ।

संवत्सरत्रयेणापि लयस्थस्यापि योगिनः।
तेजस्तत्त्यस्य सिद्धिः स्यात्तेजस्तत्त्वमयो भवेत्[१] ॥ ६१ ॥

तीन वर्षों तक निरन्तर लयस्थ योगी को तेजस्तत्त्व की सिद्धि होती है, जिससे वह तेजस्तत्त्वमय हो जाता है ॥ ६१ ॥

षड्भिः संवत्सरेरेवमखण्डलयसंस्थितः[२]।
वायुतत्त्वस्य सिद्धिः स्यात् वायुतत्त्वमयो भवेत्[३] ॥ ६२ ॥

इसी प्रकार छह वर्षों तक यदि योगी अखण्ड परतत्वलय में स्थित हो तो उसे वायुतत्त्व की सिद्धि होती है। वायुतत्त्व की सिद्धि से वह वायुतत्त्वमय हो जाता है ॥ ६२ ॥

तथा द्वादशभिर्वर्षैर्लयस्थस्य निरन्तरम्।
व्योमतत्त्वस्य सिद्धिः स्याद् व्योमतत्त्वमयो भवेत्[४] ॥६३॥

इसी प्रकार बारह वर्षों तक निरन्तर लयस्थ योगी को आकाश तत्त्व की सिद्धि होती है जिससे वह आकाश तत्त्वमय (सर्वव्यापक) हो जाता है ॥६३॥

चतुर्विंशतिभिर्वर्षैर्लयस्थस्य निरन्तरम्।
शक्तितत्त्वस्य सिद्धिः स्याच्छक्तितत्त्वमयो भवेत्[५] ॥६४॥

चौबीस वर्षों तक निरन्तर लयस्थ योगी को शक्तितत्व की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे वह शक्तितत्त्वमय हो जाता है ॥६४॥

ब्रह्माण्डंसकलं पश्येत् करस्थमिव मौक्तिकम्[६]।
आत्मकायस्वरूपं च निर्धार्याथ यथेप्सितम्[७] ॥ ६५ ॥

तदनन्तर वह (योगिराज) अपने शरीर का मनचाहा स्वरूप छांट कर अर्थात् अपना जैसी इच्छा हो वैसा स्वरूप बना कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को हथेली में रखे मोती के समान देखे ॥६५॥

---

१. (ख) तेजस्तत्त्वमयो हि सः।
२. (ख) षड्भिः संवत्सरैर्भूतैरखण्डलयसंस्थिते।
३. (ख) वायुतत्त्व मयो हि सः।
४. (ख) व्योमतत्त्वमयो हि सः।
५. (ख) शक्तितत्त्वमयो हि सः।
६. (ख) ब्रह्माण्डान् सकलान् पश्येत्पाणिस्थमिव मौक्तिकम्।
७. (ख) निर्धार्याथ यथास्थितम्।

कायस्थो दृश्यते लोके[१] तत्त्वचर्या समाचरेत् (चरन् ?)।
तत्त्वचर्यां करोत्येव शक्तितत्त्वक्षयाय च ॥ ९६ ॥

कायस्थ (शरीर स्थित) योगी लोक में तत्वचर्या का आचरण करता हुआ दिखाई देता है क्योंकि शक्तितत्त्व के विनाश के लिए उसे तत्वचर्या अवश्य ही करनी पड़ती है ॥९६॥

इत्थं क्रमविवृद्धेन लयाभ्यासेन योगिनः।
भुंजते परमानन्दं भुशुण्ड्यादिमहात्मवत् ॥ ९७ ॥

इस प्रकार क्रम से वृद्धि प्राप्त हुए लयाभ्यास से योगी भुशुण्डि आदि महात्माओं के तुल्य परमानन्द का भोग करते हैं ॥९७॥

ब्रह्मविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपि योगिनाम्।
नास्ति पातो लयस्थानां महातत्त्वे विवर्तिनाम् ॥ ९८ ॥

ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के प्रलय होने पर महातत्त्व में अधिष्ठित लयस्थ योगियों का पात (विनाश) नहीं होता है ॥९८॥

इत्यमनस्कखण्डे[२] ईश्वरपार्वतीसंवादे[३]
प्रथमोऽध्यायः ॥

---

१. (ख) लोको।
२. (ख) पुस्तक पाठः, अमनस्केयोगशास्त्रे।
३. (ख) पाठः—ईश्वरवामदेवसंवादे।

उत्तरार्ध

श्रीवामदेव उवाच—

भगवन् देवदेवेश परमानन्दसुन्दरम् ।
अपरं किंचिदाख्याहि भवता यदुदीरितम् ॥ १ ॥

श्रीवामदेव जी ने कहा—भगवन्, हे देवाधिदेव, आपने जो पहले कहा था उसी तरह का परमानन्ददायक वृत्तान्त कहने की कृपा कीजिये ॥ १ ॥

श्री ईश्वर उवाच—

बहिर्मुद्रान्वितं पूर्वं बहिर्योगेन तन्मयम् ।
अन्तर्मुद्राख्यमपरं तयोर्योग (गः?) तदेव हि ॥ २ ॥

श्री महादेव जी ने कहा—हे मुने, पूर्वोक्त तारक और अमनस्क दो योगों में पूर्वयोग अर्थात् तारक योग बाहरी मुद्रा से युक्त होने के कारण बाह्ययोग अर्थात् बहिर्योगमय है दूसरा अर्थात् अमनस्क अन्तर्मुद्रा नामक है, अतएव वही यथार्थ योग है ॥ २ ॥

राजयोगः स कथितः स एव मुनिपुंगव।
राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः॥ ३॥

हे मुनिश्रेष्ठ, वही राजयोग कहा गया है, क्योंकि वह सब योगों का राजा है, इसलिए राजयोग कहलाता है॥ ३॥

राजानं दीप्यमानं तं परं ब्रह्माणमव्ययम्।
देहिनः प्रापयेद् यस्तु राजयोगः स उच्यते॥ ४॥

जो योग देहधारियों को राजा के तुल्य शोभायमान (देदीप्यमान) उस अव्यय परब्रह्म में पहुँचाता है, वह राजयोग कहलाता है॥ ४॥

राजयोगस्य महात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
ज्ञानात् सिद्ध्यति मुक्तिर्हि गुरोर्ज्ञानं च लभ्यते॥ ५॥

हे मुनिवर, राजयोग का वास्तविक महात्म्य कौन जान सकता है? उसके ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है और गुरु से ज्ञान प्राप्त होता है॥ ५॥

अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः।
मया त्वयाप्यसौ वन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु किं पुनः॥ ६॥

जो पूर्वोक्त अन्तर्योग और बहिर्योग को विशेषरूप से (तत्त्वतः) जानता है वह मेरा और तुम्हारा भी वन्दनीय है, औरों का वन्दनीय है इसमें तो कहना ही क्या है?॥ ६॥

चित्तं बुद्धिरहंकार ऋत्विक् सोमश्च पंचमः।
इन्द्रियाणि दश प्राणान् जुहोति ज्योतिर्मण्डले॥ ७॥

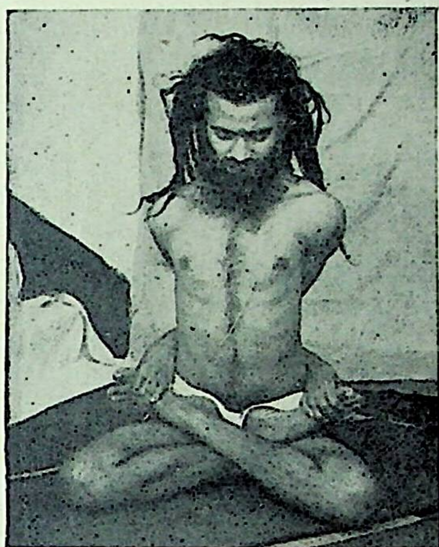
चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक् और पांचवां सोम—ये दस इन्द्रियों और प्राणों का ज्योतिर्मण्डल में हवन करते हैं[1]॥ ७॥

---

१. देह में पांच तत्त्व हैं—चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक्, (कर्म करनेवाली अस्मिता, एवं सोम (अमृत, मन)। ये पांचों होम करने वाले हैं। दश इन्द्रियाँ होम की सामग्रियाँ हैं (हव्य हैं) और ज्योतिर्मण्डल होम कुण्ड है।



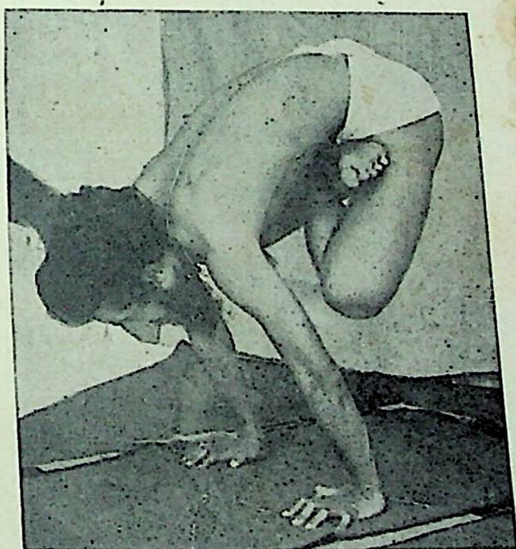
सर्वांगासन



वद्धपद्मासन



सिद्धासन



उत्थान पद्मासन (शक्ति–आसन)



योगमुद्रा



चौरंगीपीठ (दोलासन)



महायोगमुद्रा



त्राटक

तन्मूलान्नादिपर्यन्तं विभाति ज्योतिर्मण्डलम् ।
योगिभिः सततं ध्येयमणिमाद्यष्टसिद्धिदम् ॥ ८ ॥

उनके मूलभूत अन्नादि पर्यन्त ज्योतिर्मण्डल शोभित होता है। उसका योगियों को सदा ध्यान करना चाहिए। वह अणिमा आदि सिद्धियाँ देनेवाला है ॥ ८ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ९ ।

वेद, शास्त्र और पुराण गणिका के तुल्य सर्वसाधारण हैं, सबकी उन तक पहुँच है, केवल एकमात्र शाम्भवी विद्या ही कुलवधू की तरह गुप्त है ॥९॥

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा हि शाम्भवीमुद्रा सर्वशास्त्रेषु गोपिता ॥ १० ॥

यह शाम्भवी-मुद्रा अन्तर्लक्ष्यवाली, बहिर्दृष्टिवाली और निमेष और उन्मेष से शून्य है अर्थात् शाम्भवी मुद्रा में बहिर्दृष्टि होने पर भी अन्तर्लक्ष्य होता है और दृष्टि में निमेष और उन्मेष नहीं होते हैं। यह सब शास्त्रों में छिपाई गई है, गोपित है ॥ १० ॥

आदिशक्तिरुमाचैषा मत्तोजन्मवतीपुरा ।
अधुना जन्मसंस्काराත्त्वमेको लब्धवानसि ॥ ११ ॥

यह शाम्भवी—मुद्रा आदिशक्ति उमा रूप है, यह पहले मुझसे उत्पन्न हुई थी, इस समय जन्म संस्कार वश तुमने इसे प्राप्त किया है ॥ ११ ॥

गुह्याद् गुह्यतरा विद्या न देया यस्य कस्यचित् ।
एतज्ज्ञानं वसेद् यत्र स देशः पुण्यभाजनम् ॥ १२ ॥

यह विद्या गुह्य से भी गुह्यतर (अधिक गुह्य) है। इसे किसी को नहीं देना चाहिए। यह ज्ञान जहाँ रहता है वह प्रदेश (देह) पुण्यदेश है, वह जन पुण्यात्मा है[1] ॥ १२ ॥

---

१. 'देशः' के स्थान पर 'देहः' पाठ अच्छा मालूम होता है।

दर्शनात् स्पर्शनात्तस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
जना मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः[१] ॥ १३ ॥

उसके दर्शन और स्पर्श से अपने २१ पुश्तों के साथ लोक मुक्ति पद को प्राप्त होते हैं। उस देश के निवासी या जन के सेवकों की तो बात ही क्या है ? ॥ १३ ॥

नोर्द्ध्वाधः कुण्डलीभेद उन्मन्याश्चैव न क्रमः ।
अनुसन्धानमात्रेण योगोऽयं सिद्धिदायकः ॥ १४ ॥

इस योगमें ऊर्ध्वकुण्डली या अधःकुण्डलिनी भेद नहीं है। उन्मनी, मनोन्मनी का भी क्रम नहीं है। यह योग केवल अनुसन्धान मात्र से[२] सिद्धि प्रदान करता है ॥ १४ ॥

ऊर्द्ध्वमुष्टिरधोदृष्टिरूर्द्ध्वभेदस्त्वधः शिराः ।
धरायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ १५ ॥

ऊपर की ओर मुष्टि, नीचे की ओर दृष्टि, ऊपर को भेद और नीचे की ओर सिर कर "धरायन्त्र" की विधि से साधक जीवन्मुक्त होगा ॥ १५ ॥

---

१. तुलनीय—कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।
जायते योगवान यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥
दृष्टः सम्भाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् ।
भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥ (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

२. शास्त्रों में तीन प्रकार के योग का वर्णन है—(१) आणवयोग (२) शाक्तयोग और (३) शांभवयोग ।
आणवयोग में शरीर, प्राण, मन, बुद्धि को लेकर साधना होती है, जैसे कि आसन द्वारा देहजय, मुद्रा-बंध-प्राणायाम द्वारा प्राणजय, ध्यान द्वारा मनजय इत्यादि ।
जब कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है तब शाक्तयोग (शक्तिअनुसंधान) होता है। ऐसा होता है कि शक्ति सहस्रार में तो पहुँच गयी है किन्तु शिवत्वबोध नहीं है। इसलिये बोध करने का जो उपाय है वह शांभवयोग (स्वरूप अनुसंधान) है, जो अनुसंधानात्मक है ('शिवोऽहम्')।

कुलचाररता: सन्ति गुरवो बहवो मुने।
कुलाचारविहीनस्तु गुरुरेको हि दुर्लभः॥ १६॥

हे मुने, कौलों के आचार में रत बहुत से गुरु हैं, किन्तु कौलाचार से विहीन एक ही गुरु है उसका प्राप्त होना सरल नहीं है॥ १६॥

पुष्पात् प्रकाशते यद्वत् फलं पुष्पविघातकम्।
देहात्प्रकाशते तत्त्वं तत्त्वं देहविनाशकम्॥ १७॥

जैसे फूल से फल प्रकट होता है परन्तु फल फूल का विनाशक है वैसे ही देह से तत्त्व प्रकट होता है पर तत्त्व देह का विनाशक है॥ १७॥

फलप्रकाशकं पुष्पं फलं पुष्पविनाशकम्।
तत्त्वप्रकाशको देहस्तत्त्वं देहविनाशकम्॥ १८॥

फूल फल का प्रकाशक है, फल फूल का विनाशक है। देह तत्त्व की प्रकाशक है, तत्त्व देह का विनाशक है॥ १८॥

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति।
गोपः कक्षगते छागे कूपे पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥[1]

जैसे मूर्ख ग्वाला बकरी के बच्चे के बगल में रहते भी मूर्खतावश उसे कुएँ में झांकता फिरता है वैसे ही मूढ़ पुरुष अपने में स्थित तत्त्व को न जानकर शास्त्रों में मोह को प्राप्त होते हैं अर्थात् व्यर्थ शास्त्रों में भटकते हैं॥ १६॥

नमोऽस्तु गुरवे तुभ्यं सहजानन्दरूपिणे।
यस्य वाक्यामृतं हन्ति संसारमोहनामयम्॥ २०॥

सहजानन्द रूपी आप गुरु के लिए नमस्कार है जिनका वाक्य-रूपी अमृत संसार मोहरूपी व्याधि का विनाश करता है॥ २१॥

---

१. अन्यत्र भी कहा है—शुष्कशास्त्रविवादेषु नैवायुः क्षपयेद् बुधः।
नहि दीपकवार्तयामन्धकारो विनश्यति॥

अमृतोद्दीपिनी विद्या निरपाया निरंजना ।
अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी ॥ २१ ॥

यह अमनस्का विद्या अमरता को उद्दीप्त करनेवाली, कभी विनष्ट न होनेवाली और किसी भी प्रकार के कालुष्य से रहित है । यह आनन्दप्रदायिका लोकोत्तर कला सबसे उत्कृष्ट होने के कारण सर्ववन्दनीय है ॥ २१ ॥

प्राणाष्टोच्छ्वासनिः श्वासविध्वस्तविषयग्रहः ।
निश्चेष्टो निर्गतारम्भोह्यानन्द एव योगिनः ॥ २२ ॥

प्राण वायु के आठ उच्छ्वास और निःश्वासों से जिसमें रूप आदि विषयों का ग्रहण नहीं होता, जिसमें हस्त, पाद आदि अंगों की चेष्टाएँ नहीं होतीं अर्थात् निश्चलतायुक्त एवं किसी प्रकार का कार्यारम्भ जिसमें नहीं होता अर्थात् निष्क्रियता सम्पन्न आनन्द ही योगी का है ॥ २२ ॥

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निश्शेषाशेषचेष्टितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जगतां वागगोचरः ॥ २३ ॥

जिसमें सब प्रकार के संकल्प छिन्न-भिन्न हो चुके हैं, सब चेष्टाएँ निश्शेष गई हैं, केवल अपने अनुभव से ज्ञेय कोई अद्भुत लय लोगों की वाणी अगोचर है, उसका वाणी द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता ॥२३॥

वदन्त्येव परं ब्रह्म बुद्धिमन्तो हि सूरयः ।
सर्वबोधकलालापकुशला दुर्लभा भुवि ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष परम ब्रह्म को वाणी से कहते भर हैं सबको बोध (ज्ञान) कराने की कला के आलाप में कुशल पुरुष पृथ्वी में दुर्लभ हैं । या सब बोधकलाओं (ज्ञान कलाओं) के उपदेश में कुशल पुरुष पृथ्वी पर दुर्लभ हैं ॥ २४ ॥

विन्दन्त्यनात्मनोऽभावं वेदान्तोपनिषद्विदः ।
रहस्यमुपदिश्यापि स्वयं नानुभवन्ति ते ॥ २५ ॥

वेदान्त उपनिषदों के मर्मज्ञ अनात्मा के अभाव को तत्त्व जानते हैं । वे उसका उपदेश देते हैं पर स्वयं उसका अनुभव नहीं करते हैं ॥ २५ ॥

विज्ञाय योगशास्त्राणि नानागुरुमतानि च।
निबद्धः स्वावबोधो यं सद्यः प्रत्ययकारकः॥ २६॥

विविध योगशास्त्रों का तत्त्व भलीभाँति जानकर तथा नाना गुरुजनों के मतों को भी भली प्रकार जानकर यह अमनस्क नामक स्वावबोध (आत्मबोध) रचा गया है। यह सद्यः ज्ञानकारक है॥ २६॥

सकलं समनस्कं च सापायं च सदा त्यज।
निष्कलं निर्मनस्कं च निरायासं सदा भज॥ २७॥

समनस्क जो सकल (प्राणादि नामान्त कलाओं से युक्त) और विनश्वर है, का सदा त्याग करो और निर्मनस्क (अमनस्क), जो कलारहित और आयासविहीन है[१], का सदा सेवन करो॥ २७॥

दुग्धाम्बुवत् संमिलितौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ च।
यावन्मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिर्यावन्मरुच्चापि मनः प्रवृत्तिः॥२८॥[२]

मन और वायु दूध और जल की तरह परस्पर मिले हुए हैं उन दोनों की क्रिया भी एक सी ही है। उन दोनों में जब तक मन रहेगा तब तक वायु की प्रवृत्ति भी रहेगी और जबतक वायु रहेगा तब तक मन की भी प्रवृत्ति रहेगी॥ २८॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाशः एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः।
अभ्यस्तयोरिन्द्रिय[३]वर्गवृद्धिर्विध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥२९॥

उन दोनों में एक के विनाश से दूसरे का विनाश हो जाता है और एक की प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति होती है। उन दोनों के प्रवृत्त होने पर इन्द्रियवर्ग की वृद्धि (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि की ओर अधिक आकर्षण) होती है और उनके विध्वस्त होने पर मुक्ति प्राप्त होती है॥ २९॥

---

१. 'निरपायम्' ऐसा पाठ मानने पर 'अविनाशी है'। यह अर्थ होगा।

२. चले वाते चले चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्॥(हठयोगप्रदीपिका२।२)

३. अभ्यस्तयोस्तत्र त्रिवर्गवृद्धिः इतिपाठः समीचीनः प्रतिभाति। अर्थात् मन और वायु के अभ्यस्त होने पर त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि होती है।

तत्राप्य[1]साध्यः पवनस्य नाशः
षडंगयोगादिनिषेवरणेन ।
मनोविनाशस्तु गुरुप्रसादा-
न्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव ॥३०॥

उन दोनों में वायु का विनाश षडंग-योग आदि के कौशलके साथ सेवन से साध्य है और मन का विनाश तो श्री गुरुदेव के अनुग्रह से एक पलभर में ही सुसाध्य होता है ॥ ३० ॥

तस्मान्मनोनाशवतोऽमनस्कता
यन्नाशतो नश्यति वायुरग्रे ।
तस्मात्सुबुद्धीन्द्रियदेहनाशा-
दद्वैतबुद्धिः सहजस्थितस्य ॥३१॥

इसलिए जिसके मन का विनाश हो चुका उसे अमनस्कता (अमनस्क योग) प्राप्त है। मन के नाश के पहले वायु विनष्ट हो जाता है। वायु और मन के विनाश से बुद्धि, इन्द्रिय और देह का विनाश होने के कारण अमनस्क योगी को (सहजतत्त्व में स्थित योगी को) अद्वैतबुद्धि होती है ॥३१॥

जित्वा वायुं विविधकरणैः क्लेशमूलैः कथंचित्,
कृत्वा यत्नं निजतनुगताशेषनाडीप्रचारान् ।
अश्रद्धेयां परपुरगतिं साधयित्वापि नूनम् ,
विज्ञानेऽपि व्यसनसुखिनो नास्ति तत्त्वस्यसिद्धिः ॥३२॥

कष्टकारी विविध साधनों से किसी प्रकार कठिनाई से वायु पर विजय प्राप्त कर और उसका प्रयत्नपूर्वक अपने शरीर की सम्पूर्ण नाडियों से संचार कर, अश्रद्धेय (अविश्वसनीय) परकायप्रवेश को असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर विज्ञान में व्यसन से सुख माननेवाले भी अर्थात् विज्ञानार्जन में अत्यन्त परिश्रमशील साधक को तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है ॥ ३२ ॥

---

१. थ ।

केचिन्मूत्रं पिबन्ति स्वमलमथ तनौ केचिदुज्झन्ति लालां

केचित्काष्ठां प्रविष्टा युवतिभगगतं विन्दुमूर्ध्वं नयन्ति।

केचित्खादन्ति धातून् अखिलतनुशिरावायुसंचारदक्षा-

नैतेषां देहसिद्धिर्विगतनिजमनोराजयोगादृते स्यात् ॥ ३३ ॥

कुछ अघोरपंथी अपना मूत्र पीते हैं, कोई अपना मल ग्रहण करते हैं, कोई अपने शरीर पर राख पोतते हैं, दुराचरण की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए कोई युवती जनों के गुह्यांग की वूंदों को ऊपर खींचते हैं, कोई विविध प्रकार की धातुओं (रसों) का सेवन करते हैं और कोई शरीर की समस्त नाड़ियों में वायु का संचार करने में निपुण हैं परन्तु इन सबको कार्यसिद्धि प्राप्त नहीं होती। कार्यसिद्धि का अमनस्क (जिससे अपना मन विलीन हो गया ऐसे) राजयोग के सिवा दूसरा साधन नहीं है ॥ ३३ ॥

केचित्तर्कवितर्ककर्कशधियोऽहंकारदर्पोद्धताः

केचिज्जातिगताभिमानभरिता ध्यानादिकर्माकुलाः।

प्रायः प्राणिगणा विमूढमनसो नानाविकारान्विता

दृश्यन्ते नहि निर्विकारसहजानन्दैकभोगाकुलाः ॥३४॥

नाना तर्कों के ऊहापोह से कर्कश बुद्धिवाले कोई लोग निविड़ अहंकार से उद्धत रहते हैं एवं कोई जातिगत अभिमानान्वित होकर ध्यान आदि कर्मों में व्यग्र रहते हैं। पृथ्वी पर प्रायः सभी प्राणी मूढमन (विकृत मस्तिष्क) हैं तथा नाना प्रकार की विकृतियों से युक्त हैं। एकमात्र निर्विकार सहजानन्द का उपभोग करनेवाले कोई नहीं दिखाई देते हैं ॥३४॥

एकदण्डत्रिदण्डादि जटाभस्मादिकं तथा।

केशमुंचननग्नत्वे रक्तचीवर धारणम् ॥३५॥

उन्मत्ततामभोज्यान्नपानं पाखण्डवृत्तिता।

इत्यादिलिंगग्रहणं नानादर्शनदर्शनम् ॥३६॥

कोई एक दण्डधारी हैं तो कोई त्रिदण्ड आदि धारण करनेवाले हैं, कोई जटाधारी हैं तो कोई सर्वाङ्ग में खूब भभूत रमाये हुए हैं, कोई मुण्डित-मस्तक

हैं तो कोई नग्न रहनेवाले हैं और कोई रक्तवस्त्र धारण करनेवाले हैं। कोई उन्मत्त से हैं तो कोई अभोज्य भक्षण, अपेय पान आदि पाखण्डवृत्ति धारण करते हैं। इत्यादि नाना लिंगों का ग्रहण केवल नाना रूपों का प्रदर्शन मात्र है[१] ॥ ३५, ३६ ॥

नोत्पन्नस्वावबोधस्य ह्युदासीनस्य सर्वतः।
सदाभ्यासरतस्यैतेष्वेकमप्युपयुज्यते ॥३७॥

जिनको आत्मज्ञान हो चुका, जो सर्वदा सब तरफ से उदासीन हैं और सदा अभ्यास में निरत हैं उनमें पूर्वोक्त एकदण्ड, त्रिदण्ड धारण आदि लिंगों में एक भी लिंग उपयोगी नहीं होता है ॥३७॥

सदा दृष्टिविशेषाश्च विविधान्यासनानि च।
अन्तःकरणभावश्च योगिनो नोपयोगिनः ॥३८॥

सदा दर्शनविशेष अर्थात् निरन्तर विविध प्रकार की दृष्टियों का अभ्यास (त्राटक आदि), नाना प्रकार के आसनों का अभ्यास तथा अन्तःकरण भाव (एकाग्रता का अभ्यास) ये सब योगी के उपयोगी नहीं हैं ॥ ३८ ॥

अहंकारावृत्ताः केचिद् ज्ञात्वा शास्त्रसमुच्चयम्।
उपदेशं न जानन्ति ते च ग्रन्थशतैरपि ॥३९॥

जो लोग विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर अहंकारवान् होते हैं, प्रचुर गर्वयुक्त होते हैं, वे सैकड़ों ग्रन्थों के अध्ययन से भी उपदेश देना नहीं जानते हैं ॥ ३९ ॥

१—श्रीमद् आद्यशंकराचार्य जी ने स्वरचित "चर्पटपंजरिकास्तोत्रम्" में भी ऐसा ही लिखा है—

जटिलो मुण्डी लुंचितकेशः
काषायांबरबहुकृतवेषः ।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़
उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः ॥

—भजगोविन्दम्...

संकल्पमूलध्यानादि चिन्ताशास्त्रे समाकुलाः।
क्लेशेनापि न विन्दन्ति प्राप्तव्यस्थानमीप्सितम् ॥४०॥

संकल्पमूलक ध्यान आदि की विचार-चर्चा से भरे हुए शास्त्रों में आकुलमति लोग क्लेश से भी अपने अभीष्ट गन्तव्य स्थान को नहीं जान पाते हैं ॥ ४० ॥

वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च
नानाविधैः शास्त्रकदम्बकैश्च।
ध्यानादिभिः सत्करणैर्नगम्यं
चिन्तामणिं ह्येकगुरुं विहाय ॥४१॥

चिन्तामणिस्वरूप एकमात्र गुरू के अनुग्रह के सिवा वेदान्त प्रतिपादित महावाक्यों के उपदेशों से, तर्कशास्त्र में प्रतिपादित युक्तियों के कथनों से, आगमों के अध्ययन से विविध प्रकार के अन्यान्य शास्त्रों के ज्ञानार्जन से ध्यानादि उत्तम साधनों से अपने गन्तव्य स्थान की प्राप्ति संभव नहीं है ॥४१॥

तस्मान्नूनं सकलविषया निष्कलाध्यात्मयोगाद्
वायोर्नाशस्तदनु मनसस्तद्विनाशाच्च मोक्षः।
स्याच्चेदेवं सहजममलं निर्विकारं निरीहं
ज्ञात्वा यत्नं कुरुत कुशलाः पूर्वमेवामनस्के ॥४२॥

इसलिए नह निश्चित है कि सब विषय निष्कल अध्यात्मयोग से विनष्ट होते हैं। आत्मयोग से ही वायु का विनाश होता है, वायु विनाश के उपरान्त मन का विनाश होता है और मनके विनाश से मोक्ष होता है। यदि सहज, निर्मल, निर्विकार और निरीह आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर ऐसा होता हो तो हे कुशल पुरुषो, पहले ही अमनस्क के सम्बन्ध में अर्थात् अमनस्क प्राप्ति के लिए यत्न करो ॥ ४२ ॥

अभ्यस्तैः किमुदीर्घकालममलैर्व्याधिप्रदैर्दुष्करैः
प्राणायामशतैरनेककरणैर्दुःखात्मकैर्दुर्जयैः।

यस्मिन्नभ्युदिते विनश्यति बली वायुः स्वयं तत्क्षणात्
प्राप्त्यैतत्सहजं स्वभावमनिशं सेवध्वमेकं गुरुम् ॥ ४३ ॥

विविध व्याधियाँ उत्पन्न करनेवाले, बड़ी कठिनाई से करने योग्य, दुःखरूप, दुर्जय तथा अनेक साधनों से सम्पन्न होनेवाले सैंकड़ों प्राणायामों के सुदीर्घ काल तक अभ्यास करने से क्या लाभ ? जिसके उदित होने पर बलवान् वायु स्वयं तत्क्षण विनष्ट हो जाता है उसी सहज स्वभावभूत अमनस्क की प्राप्ति के लिए निरन्तर एकमात्र गुरु की सेवा करो ॥ ४३ ॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुदेवात्परं नास्ति तस्मात्तं पूजयत्सदा ॥ ४४ ॥

गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु ही देवाधिदेव महादेव हैं । गुरुदेव से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है । इसलिए सदा गुरु की पूजा-अर्चा करनी चाहिये ॥ ४४ ॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना निमेषाद्,
वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधात् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥ ४५ ॥[१]

जिसकी निमेष (पलक गिरने) के विना ही दृष्टि स्थिर हो, निरोध के विना ही जिसका वायु स्थिर हो, विना किसी अवलम्ब के जिसका चित्त स्थिर हो वही योगी है वही गुरु है, उसीकी सेवा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

अमनस्कं सुशिष्येषु संक्राम्येन्द्रियजं सुखम् ।
निवारयन्ते ते वन्द्या गुरवोऽन्ये प्रतारकाः ॥ ४६ ॥

जो सुशिष्यों में 'अमनस्क' को संक्रान्त कर इन्द्रियजन्य सुख को हटाते हैं, निवृत्त करते हैं वे गुरु वन्दनीय हैं उनसे अन्य गुरु-गुरु नहीं हैं वंचक हैं ॥४६॥

---

१. प्रथमखण्ड के १४ वें श्लोक में यही भाव व्यक्त है ।

गुरुणा दर्शिते तत्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ।
विमुक्तं मन्येतात्मानं मुच्यते नात्र संशयः ॥४७॥

श्री गुरु द्वारा उसके अर्थात् अमनस्क योग के प्रदर्शित किये जाने पर शिष्य को तत्क्षण तन्मय हो जाना चाहिये और अपने को विमुक्त समझना चाहिये। इस प्रकार का शिष्य अवश्य मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४७ ॥

यथा सिद्धरसस्पर्शात् ताम्रं भवति काञ्चनम् ।
गुरूपदेशश्रवणाच्छिष्यस्तत्त्वमयस्तथा ॥४८॥

जैसे सिद्ध (शोधे गये) पारे के स्पर्श से तांबा सोना हो जाता है, वैसे ही गुरु के उपदेश सुनने से शिष्य तत्त्वमय हो जाता है । ४८ ॥

तस्मादुपासनात् सम्यक् सहजं प्राप्यते गुरोः ।
अनायासेन सततमात्माभ्यासरतो भवेत् ॥४९॥

इसलिए गुरु की भलीभाँति उपासना करने से वह सहज तत्त्व (अमनस्क) अनायास गुरु से प्राप्त होता है। शिष्य को उसको प्राप्त कर निरन्तर आत्माभ्यास करना चाहिये ॥४९॥

विविक्ते विजने देशे पवित्रेऽतिमनोहरे ।
समासने सुखासीनः पश्चात् किंचित्समाश्रयेत् ॥५०॥

सुखस्थापितसर्वाङ्गः सुस्थिरात्मा सुनिश्चलः ।
बाहुदण्डप्रमाणेन कृतदृष्टिः समभ्यसेत् ॥५१॥

पवित्र निर्जन मनोहर प्रदेश में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर तनकर सुखपूर्वक आसीन होकर[१] सुख से सब अंगों को यथास्थान स्थापित कर, सुस्थिर चित्त और निश्चल होकर एक हाथ तक आगे की ओर दृष्टि लगाकर अभ्यास करे ॥ ५०, ५१ ॥

१—देखिये श्री गीता—

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं एवं दिशश्चानवलोकयन् ॥६।१३।"

एवं श्री पातञ्जल योगसूत्र, 'स्थिरसुखमासनम्' ॥२।४६॥

शिथिलीकृतसर्वाङ्ग आनखाग्रशिखाग्रतः ।
सबाह्याभ्यन्तरे सर्वं चिन्ताचेष्टाविवर्जितः ॥ ५२ ॥

यदा भवेदुदासीनस्तदा तत्त्वं प्रकाशते ।
स्वयंप्रकाशिते तत्त्वे स्वानन्दस्तत्क्षणाद् भवेत् ॥ ५३ ॥

पैर के नख से लेकर शिखा के अग्रभाग तक सम्पूर्ण अंगों को शिथिल कर योगी बाहरी और भीतरी सब चिन्ता और चेष्टा का त्याग कर जब उदासीन होगा तब अमनस्क तत्त्व का प्रकाश होता है। उक्त तत्त्व के स्वयं प्रकाश में आने पर आत्मानन्द तत्क्षण प्राप्त होता है ॥ ५२,५३ ॥[१]

आनन्देन च सन्तुष्टः सदाऽभ्यासरतो भवेत् ।
सदाऽभ्यासे स्थिरीभूते न विधिर्नैव च क्रमः ॥ ५४ ॥

आनन्द से सन्तुष्ट होकर सदा अभ्यास में निरत रहना चाहिये। सदा अभ्यास के स्थिर होने पर फिर न कोई विधि है और न कोई क्रम है ॥५४॥[२]

न किंचिच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत् ।
न किंचिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥ ५५ ॥

योगी कुछ भी चिन्तन न करे, औदासीन्यपरायण हो। कुछ चिन्तन न करने से ही तत्त्व स्वयं प्रकाश में आ जाता है ॥ ५५ ॥[३]

---

१. देखिये श्री गीता, अध्याय ६, श्लोक १४ एवं १५।

२. विधि = कर्तव्य निश्चय। क्रम = पूर्वापरभाव (प्रथम, द्वितीय, तृतीय) अर्थात् करणीय कर्म किस नियम से, किस समय में, किस प्रकार करना चाहिये, यह सब जानने की आवश्यकता नहीं है।

३. "चिंतन न करने का अभ्यास करना चाहिये" अर्थात् गीता के ६।२५ (शनैःशनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्) के अनुसार आत्मस्वरूप में मन को बैठाकर सर्वप्रकार के विषयों का चिंतन वर्जन करे और चित्त कर्तृत्वबोधशून्य रहे।

स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ।
इदं तदिति तद्वक्तुं गुरुणापि न शक्यते ॥ ५६ ॥

तत्त्व जब स्वयं प्रकाशित होता है तब तत्क्षण उपासक (योगी) तत्त्वमय हो जाता है। 'यह वह (तत्त्व) है' इस प्रकार उसका प्रतिपादन गुरु भी नहीं कर सकते ॥ ५६ ॥[1]

वाङ्मनःकाय-संक्षोभं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ।
शिलाचित्रमिवात्मानं सुस्थिरं धारयेत्तदा ॥ ५७ ॥

वाणी, मन तथा शरीर के क्षोभ का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिये अर्थात् साधक सदा ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे वाणी, मन और शरीर में क्षोभ न आवे। तब शिला की प्रतिमा के समान अपने शरीर को खूब सुस्थिर (निश्चल) रखना चाहिये ॥ ५७ ॥

यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत्संकल्पकामना ।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तत्त्वस्य का कथा ॥ ५८ ॥

जब तक थोड़ा सा भी प्रयत्न रहेगा, जब तक संकल्प-कामना होगी, अहं त्वम् (मैं तुम का ज्ञान है अर्थात् मैं और तुम इस प्रकार का द्वैत बोध रहेगा तब तक तत्त्व की बात कहां ? ॥ ५८ ॥

औदासीन्यामृतौघेन वर्धमानेन योगिनाम् ।
उन्मूलितमनोमूलो जगद्वृक्षः पतिष्यति ॥ ५९ ॥

योगियों के निरन्तर बढ़ रहे औदासीन्यरूपी अमृत के प्रवाह से मन रूपी मूल (जगत् की जड़) के उखड़ जाने पर, उन्मूलित हो जाने पर जगद्रूपी वृक्ष गिर जाएगा ॥ ५९ ॥

सदा जाग्रदवस्थायां स्वप्नवद् योऽवतिष्ठते ।
निःश्वासोच्छ्वासहीनस्तु निश्चितं मुक्त एव सः ॥ ६० ॥

जो योगी सदा जाग्रत् अवस्था में स्वप्नवत्, निःश्वास और उच्छ्वास से विहीन रहता है वह निश्चय मुक्त ही है ॥ ६० ॥

१—"इदं तत्"=प्रत्यभिज्ञा होना ।

स्वप्नजागरणोपेता जन्तवो जगतीं गताः।
योगिनस्तत्त्वसम्पन्ना न जाग्रति न शेरते ॥ ६१ ॥

संसार को प्राप्त जीव अर्थात् सांसारिक लोग स्वप्न और जागरणवाले हैं अर्थात् वे सोते भी हैं और जागते भी हैं। किन्तु तत्त्वसम्पन्न योगी जन न जागते हैं और न सोते हैं : वे स्वप्नजागरणविहीन हैं ॥ ६१ ॥

स्वप्ने चिदंशशून्यत्वं जागरे विषयग्रहः।
स्वप्नजागरणातीतमतस्तत्वं विदुर्बुधाः ॥ ६२ ॥

स्वप्न में चिदंश नहीं रहता और जागरण में विषयों का ग्रहण होता है, इसलिए विद्वान् पुरुष तत्त्व को स्वप्न और जागरण से अतीत कहते हैं। अथवा इसलिए स्वप्न और जागरण से अतीत को तत्त्व कहते हैं ॥ ६२ ॥

भावाभावद्वयातीतं स्वप्नजागरणातिगम्।
मृत्युजीवननिर्मुक्तं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥[1] ६३ ॥

तत्त्व के जानकर विद्वान् तत्त्व को भाव और अभाव दोनों से अतीत, स्वप्न और जागरण से परे एवं मरण और जीवन से रहित जानते हैं ॥६३॥

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपपद्यते।
तं भावं भावयेद् योगी निश्चितं मुक्त एव सः ॥ ६४ ॥

निद्रा के आदि में और जागरण के अन्त में जो भाव होता है उस भाव की जो योगी भावना करे वह निश्चय रूप से मुक्त ही है ॥ ६४ ॥[2]

---

१. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चा परे।
समतत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥ (अवधूत गीता १/३५)

२. जागृत अवस्था के अन्त में जब विषयज्ञान तिरोहित हो जाता है और निद्रा के आदि में जब जड़त्वज्ञान (अज्ञान) का उदय होता है, इन दो अवस्थाओं के बीच में (सन्धि में) क्षणभर के लिए जिस अवस्था का स्फुरण रहता है वही शुद्ध चैतन्य अवस्था है। इसे सायंसंध्या कहते हैं। निद्रा भंग होने के बाद और विषयज्ञान उदय होने से पूर्व ठीक इसी प्रकार की सन्धि अवस्था में शुद्ध चैतन्य का उदय होता है जिसे प्रातः-सन्ध्या कहते हैं।

यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद् विषयान् प्रतिपद्यते ।
जागर्त्येव ततो योगी योगनिद्राक्षणे तथा ॥ ६५ ॥

जैसे सोकर उठा हुआ कोई पुरुष रूप, रसादि विषयों को प्राप्त करता है वैसे योगनिद्रा के समय में योगी जागता ही रहता है, इसलिए वह योगी है ॥ ६५ ॥[१]

सर्वतो भविता दृष्टिः प्रत्याभू (नी ?)ता शनैः शनैः ।
परतत्त्वसनादर्शी पश्यत्यात्मानमात्मना . ॥ ६६ ॥

चारों ओर फैलाई हुई दृष्टि जब धीरे धीरे प्रत्याहृत होकर लौटती है तब साधक परतत्त्व को अपने में अपने आप देखताहै ॥ ६६ ॥[२]

प्रथमं निःसृताद्दृष्टिः संगता यत्र कुत्रचित् ।
स्थिरीभूता च यत्रैव विनश्यति शनैः शनैः ॥ ६७ ॥

पहले निकली हुई (निर्गत) दृष्टि जहाँ कहीं संलग्न होती है वहीं पर स्थिर होकर धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है ॥ ६७ ॥[३]

त्रिपुरा रहस्य ज्ञानखण्ड में भी कहा है कि—

निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविद्भेदान्तरे तथा ।
मध्ये संविद्द्वयोश्च सूक्ष्मबुद्ध्याऽभिलक्षय ॥ ९ । ९४ ॥
एतत्पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यति ।
एतदज्ञानमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम् ॥ ९ । ९५ ॥

१. साधारण व्यक्ति निद्रा की अवस्था से जाग करके जैसे विषय का ग्रहण करते हैं वैसे योगी योगनिद्रा समय में भी विषय ग्रहण करते हुए जागता ही रहता है। अर्थात् लौकिक दृष्टि से प्रतीत होता है कि वह साधारण मनुष्य के सदृश जागता है परन्तु वास्तव में यह योगी निद्रा में ही स्थित है।

२. दृष्टि प्रत्याहृत करना=अंतर्मुख करना ।

३. नष्ट हो जाती है=उसी में लीन हो जाती है।

प्रसह्य संकल्पपरम्पराणामुच्छेदने संततसावधानाम् ।
आलम्बभावादपचीयमाना शनैः शनैः शान्तिमुपैतिदृष्टिः ॥ ६८ ॥

संकल्प–परम्पराओं के बलात् उच्छेद में (विनाश करने में) सदा सावधान दृष्टि आलम्बन के अभाव से नष्ट (क्षीण) होती हुई धीरे-धीरे शान्त हो जाती है ॥ ६८ ॥

यथा यथा सदाऽभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत् ।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ॥ ६९ ॥

सदा के अभ्यास से जैसे जैसे मन में स्थिरता आती है वैसे वैसे वायु, वाणी और शरीर में स्थिरता आ जाती है ॥ ६९ ॥

दृश्यं पश्यति (!) येन सत्प्रियकरं श्राव्यं तथा शृण्वतः
घ्रातव्यं परिजिघ्रतोऽथवदतो ध्येयं सदा ध्यायतः ।
स्पर्शं च स्पृशतो निरन्धनशिखा प्रख्यं मनोऽत्र क्रमाद्
अद्वैताख्यपदस्य तत्त्वपदवीं प्राप्तस्य सद्योगिनः ॥ ७० ॥

सुन्दर दृश्य को देख रहे, मनोहारी श्रव्य को सुन रहे, सूंघने योग्य सुन्दर पदार्थों को सूंघ रहे, वक्तव्य वचनों को बोल रहे, ध्येय तत्त्व का हृदय में ध्यान कर रहे, स्पृश्य वस्तु का स्पर्श कर रहे, अद्वैत पद के तत्त्व को प्राप्त हुए सद्योगी का मन क्रम से निरन्धन अग्निशिखा के तुल्य शान्त हो जाता है ॥ ७० ॥

यदा यत्र यथा यत्र स्थिरं भवति मानसम् ।
तदा तत्र तथा तस्माद् न तु चाल्यं कदाचन ॥ ७१ ॥

अतः जब जहाँ पर जिस प्रकार मन स्थिर हो तब वहाँ उसी प्रकार उसको रहने देना चाहिये । वहाँ से उसे कदापि नहीं हटाना चाहिये ॥ ७१ ॥

यत्र यत्र मनो याति न निवार्यं ततस्ततः ।
अवारितं क्षयं याति वार्यमाणं तु वर्द्धते ॥ ७२ ॥

जहाँ जहाँ मन जाय वहाँ वहाँ से उसे निवृत्त करना (हटाना) नहीं चाहिये । अवारित मन (न हटाया गया, न रोका गया मन) क्षय को प्राप्त हो जाता है । यदि उसे रोका जाय तो वह बढ़ता है ॥ ७२ ॥

यथा निरंकुशो हस्ती कामान् प्राप्य निवर्तते।
अवारितं मनस्तद्वत् स्वयमेव विलीयते ॥ ७३ ॥

जैसे निरंकुश हाथी अपने अभिलषित पदार्थों को प्राप्त कर लौट जाता है वैसे ही अवारित (न रोका गया) मन भी अपनी इच्छा पूरी कर अपने आप शान्त हो जाता है ॥ ७३ ॥

निवार्यमाणं यत्नेन तत्कर्तुं नैव शक्यते।
न तिष्ठति क्षणेनेव मारुतस्य वशोदयात् ॥ ७४ ॥

मन प्रयत्नपूर्वक निवारित करने पर भी निवारित नहीं किया जाता है। वह (मन) वायु के वशीभूत रहने के कारण एक क्षण के लिये भी स्थिर नहीं रहता ॥ ७४ ॥[१]

दुर्निवार्यं मनस्तद्वद्यावत्तत्त्वं न विन्दति।
विदिते तु परे तत्त्वे मनो नौस्तम्भकाकवत् ॥ ७५ ॥

वैसे ही जब तक तत्त्व प्राप्त नहीं होता तब तक इधर उधर भागता हुआ मन दुर्निवार्य है। पर-तत्त्व जब प्राप्त हो जाता है तब मन समुद्र में जहाज के (स्तम्भ) मस्तूल पर बैठे हुए कौए की तरह स्थिर हो जाता है ॥ ७५ ॥

यथा तुलां तुलाधारश्चंचलां कुरुते स्थिराम्।
याने सौख्येसदाभ्यासान्मनोवृत्तिस्तदात्मनि ॥ ७६ ॥

जैसे तराजू से तोलनेवाला बनिया चंचल तराजू को स्थिर कर देता है उसी प्रकार सदा के अभ्यास से यान में तथा सुख में मनोवृत्ति सदा आत्मा में स्थिर रहती है ॥ ७६ ॥

निष्पन्नाखिलभावशून्यनिसृजः (मनसः ?) स्वान्तःस्थितिस्तत्क्षणा त्
निश्चेष्टश्लथपाणिपादकरणग्रामो विकारोज्झितः।

---

१. चञ्चलं हि मनःकृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
बस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ (श्री० गीता ६/३४)

निर्मूलप्रविनष्टमारुततया निर्जीवकाष्ठोपमो
निर्वातस्थितदीपवत्[१] सहजवान् यस्याः स्थितेर्लक्ष्यते[२]॥ ७७ ॥

जिस पुरुष का मन सब प्रकार के भावों से विहीन हो चुका उसकी तुरन्त आत्मनिष्ठा हो जाती है। जिसमें निष्ठा होने पर सहजवान् पुरुष के हाथ, पैर आदि इन्द्रिय-समूह निश्चेष्ट और शिथिल हो जाते हैं, विकार हट जाते हैं, वायु के निर्मूल (उखाड़ा हुआ) अतएव विनष्ट होने के कारण वह निर्जीव काठ के तुल्य तथा निर्वात स्थान पर स्थित दीपक की तरह निश्चल दिखाई देता है ॥ ७७ ॥

निक्षिप्तं कनकं विहाय कलुषं यद्वद् भवेन्निर्मलं
निर्वातस्थितनिस्तरंगमुदकं स्वच्छस्वभावं परम्।
तद्वत् सर्वमिदं विहाय सकलं देदीप्यते निष्कलं
तत्त्वं तत्सहजं स्वभावममलं जातेऽमनस्के ध्रुवम् ॥ ७८ ॥

अग्नि में डाला हुआ सोना जैसे कालिमा का त्याग कर निर्मल हो जाता है एवं जैसे निर्वात (वायु रहित) स्थान पर जल तरंगरहित तथा स्वच्छ स्वभाव रहता है वैसे ही अमनस्क हो जाने पर सकल (कला-सहित) तत्त्व निश्चय ही इस प्रपंच का त्याग कर निर्मल, निष्कल सहज स्वभाव हो जाता है ॥ ७८ ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मुक्तये निर्विषयं मनः ॥ ७९ ॥

मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का हेतु है। विषयों में आसक्त मन बन्धन के लिए और निर्विषय मन मुक्ति के लिए कारण होता है[३] ॥ ७९ ॥

---

१. गीता ६।१९ देखिये।

२. स्थितिर्लक्ष्यते।

३. आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ गीता० ६ । ५ ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तिर्निर्विषयं स्मृतम् ॥ (पंचदशी)

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किंचित्सचराचरम्।
मनसोऽप्युन्मनीभावेऽद्वैतभावः प्रकल्पते ॥ ८० ॥

जो कुछ चराचर जगत् है यह सब मन से दृश्य है। मन का उन्मनी भाव (अर्थात् विलय) होने पर अद्वैतभाव हो जाता है ॥ ८० ॥

जायमानामनस्कस्य ह्युदासीनस्य तिष्ठतः (सर्वतः ?)।
मृदुत्वं च परत्वं (लघुत्वं ?) च शरीरस्याथ जायते ॥ ८१ ॥

अमनस्कता जिसमें उत्पन्न हो रही है और जो चारों ओर से सर्व विषयों में उदासीन रहता है और जो स्थितिशील हो गया है ऐसे योगी का शरीर कोमल और श्रेष्ठ हो जाता है ॥ ८१ ॥

अमनस्के क्षणात्क्षीणं कामक्रोधादिबन्धनम्।
नश्यतिस्करणस्तम्भं देहगेहं श्लथं भवेत्[1] ॥ ८२ ॥

अमनस्क भाव का उदय होने पर क्षणभर में काम क्रोधादि बन्धन क्षीण हो जाते हैं, इन्द्रिय-स्तम्भ (इन्द्रियसमूह) नष्ट हो जाते हैं, देहरूपी घर शिथिल हो जाता है ॥ ८२ ॥

सहजेनामनस्केन मनःशल्ये नियोजिते।
आतपत्रमिवास्तम्भं शरीरं शिथिलायते ॥ ८३ ॥

सहज अमनस्क के द्वारा मनरूपी कांटे को निकाल फेंकने पर शरीर बिना डंडे के छाते के सदृश शिथिल पड़ जाता है ॥ ८३ ॥

अमनस्कखनित्रेण समूलोन्मूलने कृते[2]।
अन्तःकरणशल्ये तु सुखी संजायते मुनिः ॥ ८४ ॥

अमनस्क रूपी कुदारी से अन्तःकरण (मन) रूपी शल्य (कांटे) के समूल (जड़ सहित) उन्मूलित होने (उखाड़ फेंकने) पर तो मुनि (योगी) सुखी हो जाता है ॥ ८४ ॥

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (श्रुति)
इस श्लोक का अंतिम चरण श्रीमद्भागवत (११.२०.३०) में इस प्रकार है—"मयि दृष्टेऽखिलात्मनि।"

२. समूलोन्मूलिते सति (कृते)।

कदलीव महामाया समनस्केन्द्रिये सदा ।
अमनस्क फलं दत्वा सर्वयैव विनश्यति ॥ ८५ ॥

कदली (केले के पेड़) के सदृश महामाया समनस्केन्द्रिय पुरुष को एक बार अमनस्करूप फल प्रदान कर सर्वदा के लिए विनष्ट हो जाती है ॥८५॥

इन्द्रियग्राहपदयोः निश्वासोच्छवासपक्षयोः ।
संक्षीणयोर्मनः पक्षी स्थिरसत्तोऽवसीदति ॥ ८६ ॥

मनरूपी पक्षी, जिसके निःश्वास और उच्छ्वास रूप दो पंख हैं, जो इन्द्रिय तथा विषयालम्बन से युक्त है, के सम्यक् रूप से क्षीण होने पर उसकी सत्ता स्थिर हो जाती है और नाश को प्राप्त हो जाता है[1] ॥ ८६ ॥

श्वाससूत्रशतोपेतमिन्द्रियालय संकुलम् ।
त्रोटयित्वा मनोजालं मीनवज्जायते सुखी ॥ ८७ ॥

जैसे मत्स्य शत सूत्रों से बने हुए और बहुत छिद्र सम्पन्न जाल को तोड़ने पर निश्चिंत हो जाता है उसी प्रकार योगी श्वास-प्रश्वास से युक्त और इन्द्रियों से प्रभावित मन का नाश कर सुखी हो जाता है ॥ ८७ ॥

प्रशान्तेन्द्रियपादातो बुद्धिशक्तिसमन्वितः ।
वायुयानयुतश्छित्वा मनः शत्रुं सुखी भवेत्[2] ॥ ८८ ॥

अत्यन्त शान्त इन्द्रियां ही जिसकी पैदल सेना हैं, बुद्धि ही जिसके पास शक्ति (शक्ति नामक शस्त्र) है एवं वायु ही जिसकी सवारी है ऐसा योगी मनरूपी शत्रु को नष्ट कर सुखी हो ॥ ८८ ॥

गुणत्रयमयीं रज्जुं सुदृढामात्मबन्धनीम् ।
अमनस्कक्षुरेणैव छित्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ८९ ॥

योगी सत्त्व, रज और तम रूपी तीन गुणों की बनी (माया) जो आत्मा को बांधनेवाली मजबूत रस्सी है, को अमनस्क योग रूपी छुरे से ही काटकर मोक्ष को प्राप्त हो ॥ ८९ ॥

---

१. अर्थात् श्वास के नष्ट होने पर मन का नाश हो जाता है ।

२. "प्रशान्तेन्द्रियपादातं बुद्धिशक्तिसमन्वितम् ।
वायुयानयुतं छित्वा मनः शत्रुं सुखी भवेत् ॥"
यह पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है ।

यथा संह्रियते सर्वमस्तं गच्छति भास्करे।
कर जालं तथा सर्वममनस्के विलीयते ॥ ९० ॥

जैसे सूर्य के अस्त होने पर किरणजाल संहृत (छिन्न-भिन्न) हो जाते हैं वैसे ही योगी के अमनस्क होने पर सब (विश्व) लीन हो जाता है ॥ ९० ॥

इन्द्रियग्राहनिर्मुक्ते निर्वाते निर्मलामृते।
अमनस्कह्रदे स्नातः परामृतमुपाश्नुते ॥ ९१ ॥

जिस प्रकार मगर आदि ज न जन्तुओं से मुक्त, वायुशून्य निर्मल जलवाले सरोवर में स्नान करने पर तृप्ति-लाभ होता है उसी प्रकार इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त तथा प्राण, अपान आदि क्रिया से शून्य अमनस्क अवस्था में अवगाहन करने पर परा शान्ति (परमसुख) प्राप्त होती है ॥ ९१ ॥

इत्युक्तमेतत् सहजामनस्कं,
शिष्यप्रबोधाय शिवेन साक्षात्।
नित्यं हि नूनं विगतप्रपंचं,
वाचामवाच्यं स्वयमेव बोध्यम् ॥ ९२ ॥

साक्षात् भगवान् शिव जी ने शिष्यों के प्रबोध (ज्ञान) के लिए यह सहज अमनस्क योग इस प्रकार कहा। यह नित्य नूतन निष्कल, निष्प्रपंच, वाणी द्वारा कथनीय नहीं है। इसे स्वयं ही जानना चाहिये अर्थात् यह स्वानुभवैक-वेद्य है ॥ ९२ ॥

चित्ते चलति संसारोऽचले मोक्षः प्रजायते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यादौदासीन्यपरायणः ॥ ९३ ॥[१]

चित्त के चंचल होने पर संसार का भान होता है और निश्चल होने पर मोक्ष का उदय होता है। अतएव उदासीन (निष्क्रिय) होकर चित्त को स्थिर करना चाहिये ॥ ९३ ॥

चतुर्विधा मनोवस्था विज्ञातव्या मनीषिभिः।
विश्लिष्टं च गतायातं सुश्लिष्टं च सुलीनकम् ॥ ९४ ॥

विद्वान् पुरुषों को मनोवस्था चार प्रकार की जाननी चाहिये--१ विश्लिष्टा-वस्था, २ गतागतावस्था, ३ सुश्लिष्टावस्था और ४ सुलीनावस्था ॥ ९४ ॥

---

१. चित्तमेव हि संसार। (मैत्रेयी उपनिषद्)

विश्लिष्टं तामसं प्रोक्तं राजसं च गतागतम्।
सुश्लिष्टं सात्विकं प्रोक्तं सुलीनं गुणवर्जितम्॥ ९५॥

विश्लिष्टावस्था तामस कही गई है, गतागतावस्था राजस, सुश्लिष्टावस्था सात्त्विक और सुलीनावस्था निर्गुण कही गई है॥ ९५॥

विश्लिष्टं च गतायातं विकल्पविषयग्रहम्।
सुश्लिष्टं च सुलीनं च विकल्प विषनाशनम्॥ ९६॥

विश्लिष्ट और गतागत अवस्था में विकल्प और विषयों का ग्रहण होता है। सुश्लिष्ट और सुलीन अवस्था में विकल्प रूपी विष का नाश हो जाता है॥ ९६॥

ततोऽभ्यासनियोगेन निरालम्बो भवेद् यदि।
तदा सरिसभूतानि (सहजभूतात्मा ?) परमानन्द एव सः॥९७॥

तदुपरान्त निरन्तर अभ्यासयोग से यदि योगी निरालम्ब हो जाय तो उसका आत्मा सहजावस्था को प्राप्त करके परमानन्द ही बन जाता है॥९७॥[1]

अभ्यस्यतो मनःपूर्वं विश्लिष्टं चलमुच्यते।
ततश्च निश्चलं किंचित् सानन्दं च गतागतम्॥ ९८॥

सानन्दं निश्चलं चेतः ततः सुश्लिष्टमुच्यते।
अतीव निश्चलीभूतं सानन्दं च सुलीनकम्॥ ९९॥

अभ्यास कर रहे योगी का मन पहले चल रहने के कारण विश्लिष्ट कहा जाता है। उसके बाद किंचित् निश्चल होने पर सानन्द कहा जाता है। और अत्यन्त निश्चल हो जाने पर उसे सुलीन कहा जाता है॥ ९८, ९९॥

बभूव तस्य कर्माणि पापपुण्यस्य संक्षयः।
प्रयान्ति नैव लिम्पन्ति क्रियमाणानि साधुना॥१००॥

साधु द्वारा किये जा रहे कर्म नष्ट हो जाते हैं, उसे लिप्त नहीं करते हैं, क्योंकि उसके पाप और पुण्य का संक्षय हो चुका रहता है॥ १००॥

---

१. यहाँ पर "सरिसभूतानि" शब्द उचित प्रतीत नहीं हो रहा है अतः 'सहजभूतात्मा" शब्द ही योग्य है।

उत्तुङ्ग सहजानन्दः सदाभ्यासरतः स्वयम् ।
सर्वसंकल्पसंत्यक्तः स विद्वान् कर्मसंत्यजेत् ।।१०१।।

स्वयं सदा अभ्यास में निरत अतएव बहुत उन्नत सहज आनन्दवाला तथा सब संकल्प और विकल्पों से मुक्त हुआ वह विद्वान् पुरुष कर्म का सम्यक् त्याग कर दे ।। १०१ ।।

ये तु विद्यार्थविज्ञाना[1] विद्वांस इति कीर्तिताः ।
आत्मतत्त्वं न जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा ।।१०२।।

किन्तु जो लोग पुस्तकीय विद्या और धनार्थ अर्जित विज्ञानवाले विद्वान् कहे जाते हैं वे आत्मतत्त्व को वैसे ही नहीं जानते हैं जैसे कि दर्वी (करछुल) पाक (रसोई) के रस (स्वाद) को नहीं जानती ।। १०२ ।।

सांसारिकक्रियायुक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम् ।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा ।।१०३।।

जो सांसारिक क्रियाओं से युक्त हो और मैं 'ब्रह्मज्ञानी हूं' ऐसा दम भरता हो, कर्म और ब्रह्म दोनों से भ्रष्ट उस तथाकथित ब्रह्मज्ञानी का अन्त्यज के समान त्याग कर देना चाहिये ।। १०३ ।।

वृथा देवान् परित्यज्य कर्मकाण्डविवर्जितान् ।
पाखण्डपण्डितान् मन्ये न ते किमपि जानते ।। १०४ ।।

वृथा यजनीय देवताओं का परित्याग कर कर्मकाण्ड से रहित लोगों को मैं पाखण्डी पण्डित मानता हूं । वे कुछ भी नहीं जानते हैं ।। १०४ ।।

न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिस्त्यजते ह्यसौ ।
कर्मणो मूलभूतस्य संकल्पस्यैव नाशतः ।। १०५ ।।

योगी को कर्मों का त्याग नहीं करना पड़ता है, क्योंकि कर्मों के मूलभूत संकल्प का नाश होने से वह स्वयं कर्मों द्वारा त्यागा जाता है ।। १०५ ।।

---

१. 'विदितविज्ञाना' इति पाठान्तरम् ।

यदा यदा सदाभ्यासात् संकल्पविलयो भवेत् ।
योगिनो भवति श्रेयान् कर्मत्यागस्तदा तदा ॥ १०६ ॥

जब जब सदा अभ्यास से संकल्प का विनाश होता है तब तब योगी का
त श्रेयान् कर्मत्याग होता है ॥ १०६ ॥

दान्तानां कुशलानां च सततं मोक्षमिच्छताम् ।
श्रद्धावतां सुशिष्याणां शास्त्रमेतत्प्रकाशयेत् ॥ १०७ ॥

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुके एवं सदा मोक्ष की इच्छा रखनेवाले दक्ष श्रद्धावान् सत् शिष्यों के लिए इस शास्त्र को प्रकट करना चाहिये ॥१०७॥

शास्त्रमेतत् प्रयत्नेन सदाभ्यस्यं मुमुक्षुभिः ।
यस्य धारणमात्रेण स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥ १०८ ॥

मुमुक्षु पुरुषों को इस शास्त्र का जतन से सदा अभ्यास करना चाहिये, जिसके धारणमात्र से तत्त्व अपने आप प्रकाश में आता है ॥ १०८ ॥

न दिवा जागरितव्यं स्वपितव्यं नैव रात्रिभागेऽपि ।
रात्रावह्नि च सहजे स्वपितव्यं योगिना नित्यम् ॥ १०९ ॥

योगी को न तो दिन में जागरण करना चाहिये और न रात्रि में शयन। योगी को नित्य रात में और दिन में सहजतत्त्व में शयन करना चाहिये ॥१०९॥

निर्मनः सहजस्थिते पुरुषे न दिवारात्रिशब्दोऽस्ति ।
जागरणशयनवर्जित चिन्मात्रानन्दस्थानात् ॥११०॥[1]

अमनस्करूप सहजतत्त्व में स्थित पुरुष के विषय में दिन और रात्रि शब्द लागू नहीं होते हैं, क्योंकि वह जागरण और शयन से रहित चिन्मात्रानन्द में स्थित रहता है ॥ ११० ॥

ॐकारप्रमुखैर्विचित्रकरणैः प्रायस्य वा यो जपः[2],
तेजाश्चिन्तनमन्तरालकमले शून्याम्बरालम्बनम् ।

---

१. स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा नक्तं दिवा वापि न मे कदाचिद् ।
अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमना मयोऽहम् ॥
(अवधूतगीता ४—१७)

२. 'प्राणस्ययद्योजनम्' इतिपाठान्तरम् ।

त्यक्त्वा सर्वमिदं.........[1]मत्वा मनो विभ्रमं,
देहान्ते तदवाच्यमेकममनस्कत्वं बुधैः सेव्यताम् ॥१११।

ओंकारादि विभिन्न करणों से प्राण का संयोजन (१) हृदयकमल में ज्योतिश्चिन्तन, (२) महाशून्य रूप आकाश का आलम्बन अर्थात् चित्त का निरालम्बन, (३) इन सबका, मन के विभ्रम हेतु, त्यागकर अन्तिम समय में ज्ञानियों को एकमात्र अवाच्य अमनस्क का सेवन करना चाहिये ॥ १११ ॥

अन्यजन्मकृताभ्यासात्स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।
सुप्तोत्थितः प्रत्यूषे ह्युपदेशाद् विना प्रवुद्धयते ॥ ११२ ॥

अन्य जन्मों में किये गये अभ्यास से तत्त्व स्वयं प्रकाशित होता है। सोकर जागा हुआ पुरुष प्रातःकाल उपदेश के बिना ही जैसे सब कुछ जान जाता है ॥ ११२ ॥

शुद्धाभ्यासस्य शान्तस्य सदैव गुरुसेवया।
गुरु प्रसादात्तत्रैव तत्त्वज्ञानं प्रकाशते ॥ ११३ ॥

सदैव गुरुसेवा से जिसका अभ्यास शुद्ध है ऐसे शान्त पुरुष को गुरु के साद से उसी जन्म में तत्त्वज्ञान प्रकाशित हो जाता है ॥ ११३ ॥

इति श्री ईश्वरवामदेव संवादेऽमनस्के योगशास्त्रे द्वितीयो लयः

॥ समाप्त ॥

---

१. (ख) करो नरवरं।